भारतीय ग्रन्थमाला—संख्या ३

हमारी राष्ट्रीय समस्याएँ



लेखक

भारतीय शासन, नागरिक शिक्षा, देशी राज्य शासन,
और, भावी नागरिकों से, आदि के रचयिता

भगवानदास केला



प्रकाशक

भारतीय ग्रन्थमाला, दारागंज, इलाहाबाद



मुद्रक

गयाप्रसाद तिवारी बी. काम., नारायण प्रेस, प्रयाग

नवाँ संस्करण] अक्तूबर १९४८ ई० [मूल्य, दो रुपए

इस पुस्तक के संस्करण

पहला संस्करण	१०००	प्रतियाँ	सन्	१९१८
दूसरा "	१०००	"	"	१९२३
तीसरा "	६५०	"	"	१९३९
चौथा "	६२५	"	"	१९४३
पाँचवाँ "	१०००	"	"	"
छठा "	१०००	"	"	१९४५
सातवाँ "	१५००	"	"	"
आठवाँ "	१५००	"	"	१९४७
नवाँ "	१५००	"	"	१९४८

सुहृद्वर

श्री शंकरसहाय सकसेना

एम० ए०; एम० काम०

प्रिंसीपल, महाराणा कालिज, उदयपुर,

को सप्रेम समर्पित

निवेदन

एक अंगरेज कवि ने कहा है कि मैं सोया तो मुझे मालूम हुआ कि जीवन एक सौन्दर्य है; पर मैं जागा तो मालूम हुआ कि जीवन एक कर्तव्य है। असल में जागृत व्यक्तियों, संस्थाओं तथा राष्ट्रों के लिए जीवन कर्त्तव्य-स्वरूप ही होता है। जागृत और स्वाधीन भारत-सन्तान को चाहिए कि राष्ट्रीय समस्याओं को हल करने में भरसक हिस्सा ले।

सन् १६२३ से हम इस पुस्तक के नए संस्करणों में आवश्यक संशोधन करते रहे हैं। पिछले संस्करण में देशी राज्य, पाकिस्तान, भारतीय संघ, और अखंड भारत के विषय में विशेष विचार किया गया था। यह संस्करण उसके साल भर के भीतर ही छप रहा है, परन्तु यह समय बड़े-बड़े परिवर्तनों का रहा है। इस बीच में देशी राज्यों की समस्या बहुत-कुछ सुलझ कर राष्ट्रीय एकता की वृद्धि हुई है। राष्ट्रगीत, राष्ट्र-भाषा और राष्ट्रीय शिक्षा के विषय में कई नए विचार सामने आए हैं। नागरिकों के भोजन-वस्त्र आदि की यथेष्ट व्यवस्था करना और उन्हें अच्छा जीवन बिताने का अवसर देने का प्रश्न उपस्थित है। इसके लिए उत्पादन बढ़ाने तथा वितरण की व्यवस्था करने, भ्रष्टाचार और मुनाफेखोरी आदि को रोकने का प्रबन्ध करना है। इन विषयों पर यथा-सम्भव प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। इससे पाठ्य विषय कई जगह बढ़ाया, और कहीं-कहीं बदला गया है। आशा है, यह पुस्तक पाठकों को अपना कर्तव्य पालन करने में बहुत मदद देगी।

विनीत

विषय-सूची

पहला परिच्छेद

राष्ट्र-निर्माण

मनुष्यों का संगठन; परिवार और वंश—जाति—राष्ट्र—राष्ट्र-निर्माण और भारतवर्ष। पृष्ठ १-६

दूसरा परिच्छेद

भारत में राष्ट्रीयता

भारत में राष्ट्रीय भावों की प्राचीनता—मध्य युग की स्थिति—अंगरेजी राज्य की स्थापना का रहस्य--राष्ट्रीयता का विकास--विकास के कारण--कांग्रेस और राष्ट्रीयता। पृष्ठ ६-२०

तीसरा परिच्छेद

राष्ट्रीयता के साधन

भौगोलिक स्थिति—भाषा—लिपि—धर्म या मत—रीति-रस्म और रहन सहन—जातियाँ—संस्कृति—राजनीतिक एकता—दूसरी बातें—राष्ट्रीयता पर नया प्रहार; गम्भीरता की आवश्यकता। पृष्ठ ३०-३४

चौथा परिच्छेद

राष्ट्र-बल

(१) जनसंख्या—(२) स्वास्थ्य-रक्षा—(३) सदाचार।

पृष्ठ ३५-४५

पाँचवाँ परिच्छेद

संगठन

सङ्गठन का आधार; मेहनत मजदूरी—समाज-सुधार की ज़रूरत—दान-धर्म—जाति-भेद और अस्पृश्यता—संस्थाओं का कार्य-क्रम—किसानों और मजदूरों का सङ्गठन—महिलाओं का सङ्गठन—नवयुवकों का सङ्गठन—विशेष वक्तव्य। पृष्ठ ४५-५४

छठा परिच्छेद

साम्प्रदायिकता

साम्प्रदायिकता का मूल; अज्ञान या स्वार्थ—हिन्दुओं में साम्प्रदायिकता—हिन्दू-मुसलिम सवाल; पाकिस्तान बनने के बाद—हिन्दुओं और मुसलमानों का आपसी सम्बन्ध—गोहत्या और बाजा—अल्पसंख्यकों की समस्या; दूसरे देशों में इसका हल—एकता और समझौते—विशेष वक्तव्य। पृष्ठ ५४-६७

सातवाँ परिच्छेद

राष्ट्रीय भावों का प्रचार

प्राक्कथन—स्वदेशानुराग—भारत माता और उसकी सेवा—राष्ट्रीय जयन्तियाँ और त्योहार—जनता में प्रचार—राष्ट्रीय सप्ताह—स्वदेशी—मातृ-वन्दना। पृष्ठ ६७-७६

आठवाँ परिच्छेद

राष्ट्रीय झंडा और गीत

झण्डे का महत्व—भारतवर्ष में राष्ट्रीय झंडा; सन् १६२१ में—झंडा-सत्याग्रह—झंडा-वन्दन—झन्डे के रंग—राष्ट्रीय झंडा, सन् १६३५ के बाद—स्वतन्त्र भारत का झण्डा; स्वाधीनता और बन्धुत्व का सन्देश-वाहक—१५ अगस्त; राष्ट्रध्वजारोहण—झन्डे की मर्यादा।

राष्ट्र-गीत; वन्देमातरम् की शक्ति—गीत की रचना और प्रचार—सम्प्रदायवादियों का विरोध—दूसरा राष्ट्रीय गीत; "जनगण मन अधिनायक"—दोनों गीतों की तुलना। पृष्ठ ७६-६२

नवाँ परिच्छेद

राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि

राष्ट्र-भाषा—हिन्दी भाषा की स्वाभाविक योग्यता—हिन्दी और उर्दू—हिन्दुस्तानी—हिन्दुस्तानी और सर्वसाधारण—पाकिस्तान बनने के बाद—विशेष वक्तव्य।

भारतवर्ष की राष्ट्र लिपि—रोमन लिपि। पृष्ठ ६३-१०४

दसवाँ परिच्छेद

राष्ट्रीय-शिक्षा और साहित्य

बुनियादी शिक्षा और नई तालीम—धार्मिक शिक्षा—इतिहास की शिक्षा—शिक्षा का माध्यम—उच्च शिक्षा का प्रश्न—पारिभाषिक शब्दों की बात—कोष-निर्माताओं से निवेदन—घरों में शिक्षा—प्रौढ़ शिक्षा।

साहित्य और भारतीय राष्ट्र—दूसरे राष्ट्रों के उत्थान-पतन में साहित्य का प्रभाव—राष्ट्र-निर्माण में साहित्यसेवियों का स्थान—साहित्य किस ढंग का होना चाहिए?—स्वाधीनता-संग्राम का इतिहास।

पृष्ठ १०५-२०

ग्यारहवाँ परिच्छेद

प्रान्तीयता

प्रान्तों की रचना—पुनर्निर्माण की मांग; मुख्य कारण—प्रान्तों का आपसी संघर्ष—एक उदाहरण; बंगाली-बिहारी समस्या—भाषा की बात—संस्कृति का विचार—साम्प्रदायिकता—नेतागिरी की चाह—वर्तमान परिस्थिति—ध्यान देने की बात—अन्तर्प्रान्तीय सहानुभूति और सहयोग। पृष्ठ १२०-३१

बारहवाँ परिच्छेद

देशी राज्य

देशी राज्यों का, शासन की इकाइयों की दृष्टि से, विचार—नई ब्रिटिश योजना—राजाओं को 'स्वतंत्रता'—कश्मीर—जूनागढ़—हैदराबाद—रियासतों के सम्बन्ध में भारतीय संघ और पाकिस्तान की नीति—रियासतें और राष्ट्रीय एकता—महान सफलता—विशेष वक्तव्य। पृष्ठ १३२-४३

तेरहवाँ परिच्छेद

पाकिस्तान

कल्पना ने मूर्त स्वरूप धारण कर लिया—मुसलिम लीग और ब्रिटिश साम्राज्यवाद—मुख्य ध्येय, पाकिस्तान—आत्म-निर्णय का सिद्धान्त—'दो राष्ट्रों' की बात—ब्रिटिश मंत्रिमिशन योजना—विधान-

योजना में परिवर्तन—पाकिस्तान और ब्रिटिश कूटनीति—कांग्रेस ने देश का विभाजन क्यों स्वीकार किया?—पाकिस्तान के अधिकारियों की अल्पसंख्यकों सम्बन्धी नीति—अधिकारियों का कर्तव्य—पाकिस्तान और भारतीय संघ का सम्बन्ध—विशेष वक्तव्य। पृष्ठ १४३-५३

चौदहवाँ परिच्छेद

भारतीय संघ का उत्तरदायित्व

भारतीय स्वाधीनता के प्रयत्न—अधूरी सफलता; चिन्ताजनक कार्य—आबादी का अदल-बदल—मुसलमानों को निकाल देने से भारतीय संघ की हानि—म० गांधी का प्रयत्न—भारतीय संघ की जिम्मेदारियाँ—जनता के सहयोग और राजभक्ति की आवश्यकता—मुसलमान भाइयों से—भारतीय संघ की शासन-नीति—हिन्दू राज्य-स्थापना की बात—कार्यकर्ताओं की आवश्यकता। पृष्ठ १५४-६५

पन्द्रहवाँ परिच्छेद

देश-रक्षा

स्वाधीनता और देश-रक्षा—आन्तरिक सुरक्षा का सवाल—सेना के पुनर्निर्माण की आवश्यकता—हमारी वर्तमान रक्षा-समस्या—भारतीय संघ और पाकिस्तान दोनों के हित की बात। पृष्ठ १६५-७०

सोलहवाँ परिच्छेद

अखंड भारत

भारतवर्ष का विभाजन दुःखदायी है—पाकिस्तान की स्थिति—भारतीय संघ के मुसलमानों का विचार—अखंड भारत के समर्थकों का कर्तव्य—भारतवर्ष सब भारतीयों का है—यहाँ फ्रांस और पुर्तगाल की सत्ता का अन्त होना आवश्यक है—फ्रांसीसी भारत—पुर्तगाली भारत—नेपाल की बात—विशेष वक्तव्य। पृष्ठ १७१—७९

परिशिष्ठ (१)

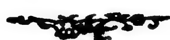
राष्ट्रीयता का सदुपयोग पृष्ठ १८०-८३

परिशिष्ठ (२)

भारतवर्ष के राजनीतिक भाग पृष्ठ १८४

पहला परिच्छेद

राष्ट्र-निर्माण



आओ, भारतीय! भारत का राष्ट्र-भवन निर्माण करें।
दुखिया जननी-जन्मभूमि का मिल-जुल कर सब त्राण करें॥

—कर्ण

प्रिय बान्धवो! आलस्य अपना वेग खोना चाहिए।
कर्त्तव्य-पथ में शीघ्र अब आरूढ़ होना चाहिए॥
जी-जान से बल-वृद्धि का उद्योग करना चाहिए।
राष्ट्र-निर्माणार्थ अब कटिबद्ध होना चाहिए॥

—हनुमतप्रसाद जोशी

हमें अपने देश की विविध राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार करना है। इसके लिए पहले यह जानलें कि राष्ट्र ('नेशन') किसे कहते हैं, और उसका निर्माण किस प्रकार होता है, यानी वह किस तरह बनता है।

मनुष्यों का संगठन; परिवार और वंश—राष्ट्र बनाने से पहले, मनुष्यों को कई मंज़िलें तय करनी होती है; उनके बारे में कुछ ज्ञान प्राप्त करने से राष्ट्र-सम्बन्धी बातों को समझने में सुविधा होगी। मनुष्य अपने स्वभाव से ही समाज-प्रिय है। अकेले रहने की दशा में उसे अपना स्थान बड़ा सुनसान मालूम होता है। किससे बातें करे, कैसे अपना जी बहलाए; ये प्रश्न

उसके सामने आते हैं। अकेले, उसका मन नहीं लगता। फिर, अकेले रहने की दशा में उसे जंगली जानवरों का भी भय रहता है। इसके अलावा उसकी तरह तरह की जरूरतें हैं, उन्हें पूरा करने के लिए भी उसे समाज में रहना होता है। प्राचीन काल में मनुष्य का जीवन बहुत सरल और सादा था, उसकी जरूरतें कम थीं, तो भी उसे भूख-प्यास और सर्दी-गर्मी आदि तो लगती ही थी। उसे भोजन और पानी की जरूरत होती थी। पानी जहाँ तहाँ नदियों या झरनों में मिल भी जाय, भोजन तो हर जगह मिलना कठिन था। शिकार के लिए मनुष्यों को एक-दूसरे के साथ मिलकर, मंडली या टोली बना कर रहना पड़ा। पीछे पशु-पालन और खेती के लिए तो आदमियों को इकट्ठे तथा स्थायी रूप से एक जगह रहने की और भी अधिक जरूरत हुई।

धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों सभ्यता बढ़ी, मनुष्यों की जरूरतें भी बढ़ती गईं। अब तो उनके अकेले-दुकेले रहने की बात ही क्या, अकसर एक गाँव में भी मनुष्य की जरूरतें पूरी नहीं होतीं, उसे दूसरे गाँवों ही नहीं, दूर दूर के नगरों या कस्बों से सम्बन्ध रखना होता है। कोई मनुष्य केवल अपने ही द्वारा पैदा की हुई चीजों से गुजारा नहीं कर सकता। उसे दूसरों से सहायता लेनी और उन्हें सहायता देनी ही पड़ेगी। इस तरह मनुष्यों का आपस में सम्बन्ध होना लाजमी है।

शुरू में मनुष्य का प्रेम अपने परिवार से होता है। जन्म लेने के समय से ही हरेक बच्चे का अपनी माता से, और कुछ समय बाद पिता से, सम्बन्ध हो जाता है। अच्छी तरह चलने-फिरने योग्य होने में उसे कई साल लग जाते हैं। अपना गुजारा

करने की योग्यता तो आदमी में अपनी उम्र के एक-डेढ़ दर्जन वर्ष बिता देने पर आती है। इतने समय तक वह माता-पिता के आसरे रहता है। बड़ा होने पर स्त्री पुरुष का विवाह-सम्बन्ध होता है। इनकी सन्तान होती है। इस तरह नए-नए परिवार बनते रहते हैं।

अकसर एक परिवार दूसरे परिवार की चीजों का उपयोग करना चाहता है; इसलिए या तो उससे मित्रता करता है, या उस पर हमला करता है। मित्रता के लिए उससे मेलजोल होता है। दूसरे पर हमला करने के लिए, अथवा दूसरों के हमले से बचने के वास्ते भी, परिवारों या वंशों का संगठन होता है और एक समूह में रहनेवाले मनुष्यों की संख्या बढ़ती जाती है। पास-पास रहते हुए इन समूहों के आदमियों में एक दूसरे का सहायता करने का भाव बढ़ता जाता है। कभी-कभी इन समूहों में ऐसे आदमा भी शामिल हो जाते हैं, जो दूसरे वंशों या समूहों के हों। ये भी इनसे मिलजुल कर रहने लग जाते हैं और अन्त में इनके ही हो जाते हैं। ज्यों-ज्यों इन समूहों के मनुष्यों की संख्या तथा जरूरतें बढ़ती हैं, ये नए-नए गाँव या नगरों को बसाते जाते हैं, और उनमें बँट जाते हैं। इस प्रकार एक समूह के आदमी के मित्र या सम्बन्धी कई कई स्थानों में रहनेवाले होने लगते हैं और जुदा-जुदा गाँवों या नगरों के निवासियों का आपस में सम्बन्ध होता जाता है।

जाति—एक समूह के आदमियों का आपस में बहुत मेल-जोल होता है। जब वे कई पीढ़ियों तथा सदियों तक इकट्ठे एक ही जगह रहते हैं और आपस में उनका खान-पान तथा विवाह-

सम्बन्ध होता रहता है तो उनका रहनसहन एक खास तरह का हो जाता है। उनके दुख:सुख, उनके स्वार्थ, उनके रीति-रिवाज, त्योहार, उत्सव और मेले आदि एक हो हो जाते हैं। इस तरह, जैसा कि श्री० भारत-भक्तजी ने 'राष्ट्र-निर्माण' में लिखा है, जिस समय एक समूह के मनुष्य मिलजुल कर एक स्थान पर रहने लगते हैं, और उन सब में रहनसहन तथा उनके जीवन में एक ऐसी विशेषता आ जाती है, जो दूसरे मनुष्य-समूहों में नहीं मिलती, तो वे अपनी एक विशेष सभ्यता खड़ी कर लेते हैं, पीढ़ियों तथा सदियों तक जातीय साहित्य और जातीय रीति-रिवाज द्वारा उस सभ्यता को बनाए रखते हैं, तथा उसकी उन्नति करते रहते हैं। वे समान हित तथा आदर्श की कड़ी में बँध जाते हैं। उस समय उस मनुष्य-समूह को एक 'जाति' कहने लगते हैं। इस प्रकार धीरे-धीरे कई जातियाँ बन जाती हैं। एक जाति के लोगों को आपस में बाँधनेवाली तथा दूसरी जातियों से उनकी जुदाई दिखलानेवाली कई शक्तियाँ होती हैं, उन में तीन मुख्य हैं:—एकदेशीयता, धार्मिक एकता और भाषा की एकता।

इस सम्बन्ध में जर्मन विद्वान् बलंशली ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक थियरी-आफ-दि-स्टेट' में इस आशय का भाव प्रकट किया है कि किसी जाति का मूल तत्व उस जाति की सभ्यता तथा उसका भीतरी संगठन है; और, उसकी दूसरी जाति से अलहदगी प्राय: उसकी सभ्यता की उन्नति से ही होती है, अर्थात् दो जातियों की सभ्यताओं की उन्नति में जितना अधिक अन्तर होता है, उतना ही वे अधिक जुदा-जुदा मानी

जाती हैं।

'जाति' शब्द व्यापक अर्थ रखनेवाला है। समय के परिवर्तन से इसका अनर्थ हो गया है; अब इससे बहुत संकुचित अर्थ भी लिया जाता है। मिसाल के लिए, भारतवर्ष में आजकल ब्राह्मण क्षत्री, वैश्य और शूद्र उपजातियों को ही नहीं, इनकी अनेक छोटी-छोटी शाखाओं के लिए भी 'जाति' शब्द काम में लाया जाता है, जैसे गौड़ ब्राह्मण, माहेश्वरी वैश्य, अग्रवाल वैश्य, बढ़ई, लुहार आदि जाति। असल में इन सब के संगठित स्वरूप को एक जाति कहना चाहिए; ये सब आर्य जाति के अंग हैं।

राष्ट्र—याद रहे कि आदमियों के किसी समूह को, केवल एक जाति होने से ही, 'राष्ट्र, नहीं कह सकते। जाति और राष्ट्र में बड़ा अन्तर है। किसी जाति में अकसर एक ही कुल या नसल के आदमी रहते हैं। बहुत मुद्दत तक पास रहने से जब इनमें अपने देश का, और राज्य की एकता का भाव मजबूत हो जाता है, तब ये लोग 'राष्ट्र' कहलाने योग्य हो जाते हैं। इस प्रकार राष्ट्र में शासन या राज्य का भाव होना लाजमी है, जाति में यह बात नहीं होती। प्रत्येक जाति का राष्ट्र होना जरूरी नहीं है। राष्ट्र में जाति का होना अनिवार्य है, और एक राष्ट्र में एक-से अधिक जातियाँ भी हो सकती हैं। निदान, राष्ट्र आदमियों के उसी संगठित समूह को कहते हैं, जो भूमि के किसी निश्चित भाग पर एक शासन में रहते हुए अपने छोटे-बड़े सब हिस्सों की शारीरिक, मानसिक, आर्थिक और राजनीतिक हर तरह की तरक्की करने में लगा हो।

भूमि राष्ट्र का स्थायी या अचल भाग है। यह राष्ट्रीय शरीर

के लिए ढांचे या पिंजर का काम देती है। इस शरीर को जानदार बनानेवाली शक्ति जनता है। जनता ही राष्ट्र का प्राण है। इससे राष्ट्र में जनता का महत्व साफ जाहिर है। राष्ट्र-निर्माण के विचार से जनता के सम्बन्ध में दो बातें खास तौर से ध्यान देने योग्य होती हैं:—संख्या और सामर्थ्य। बहुत छोटे-छोटे जन-समूहों से राष्ट्र नहीं बनता; और असमर्थ, अयोग्य या असंगठित मनुष्यों से भी काम नहीं चलता; चाहे उनकी संख्या कितनी ही बड़ी क्यों न हो।

मिल आदि कई लेखकों और राजनीतिज्ञों ने राष्ट्र की व्याख्या के सम्बन्ध में खुलासा लिखा है। उनका आशय यह है कि मानव समाज के किसी अंग को राष्ट्र उस दशा में कहा जाता है, जब उसके आदमी आपस में ऐसी सहानुभूति से मिले हुए हों, जो उनमें और ग़ैर आदमियों में न हो; और उनकी यह चाह हो कि वे एक ही शासन में रहें और वह शासन उनका हो, अथवा केवल उनमें से ही कुछ लोगों का हो, दूसरों का नहीं। राष्ट्रीयता की यह भावना कई कारणों से पैदा हो सकती है। कभी-कभी इसका कारण यह होता है कि वे आदमी एक ही जाति या नसल के होते हैं। भाषा और धर्म की एकता से इसमें बहुत सहायता मिलती है। भौगोलिक एकता भी इसका एक खास कारण होती है। परन्तु सब से बड़ा कारण राजनीतिक परम्परा की समानता होती है। राष्ट्रीय इतिहास, समान सामूहिक गौरव और अपमान, समान सुख और दुःख की याद, और समान भविष्य की आशाएँ—यह राष्ट्र-निर्माण की महत्वपूर्ण सामग्री होती है।

राष्ट्र के कहने से राज्य के ऐसे आदमियों से मतलब होता है, जिनका यह निश्चय हो कि हम अपने सारे समूह का भविष्य अच्छा बनाएँगे। हम अपने सामूहिक कार्यों की देखरेख खुद ही करेंगे; कोई दूसरी शक्ति उसमें दखल नहीं दे सकेगी। इन लोगों में आपस में ऐसे अपनेपन का भाव होता है कि एक का कष्ट सबका कष्ट समझा जाता है, उसके दुख को दूर करने के लिए सब जी-जान से कोशिश करते हैं। किसी भी भय या लोभ द्वारा, एक आदमी दूसरे को हानि पहुँचाने के लिए तैयार नहीं किया जा सकता।

राष्ट्र के मनुष्यों में भाषा, धर्म, जाति या संस्कृति आदि की बड़ी एकता होती है; उनमें सबसे बड़ी एकता भावों या दिलों की एकता होती है, जिससे जब एक अंग को कुछ कष्ट हो तो दूसरे सब अंग उससे सहानुभूति रखते हुए उसके दुख को दूर करने की कोशिश करने लगें। राष्ट्र के आदमी भली भाँति जानते हैं कि हम सब एक ही मातृभूमि की सन्तान हैं—आपस में भाई-बन्धु हैं, दूसरों के सुख-दुःख में हमारा भी लाभ हानि है। श्री० इन्द्र वेदालंकार जी ने राष्ट्रीयता के मूल मन्त्र' में लिखा है:—
"जब एक जाति एक ही राज्य के नीचे रहते-रहते पुष्ट हो जाती है, जब उसके अवयव (अंग) मिल कर एक अवयवी को बनाने लगते हैं, तब वह राष्ट्र के रूप में परिणत हो जाती है। पैर में लगे हुए काँटे की कँपकपी जब सिर तक पहुँचने लगे, तभी कोई जाति 'राष्ट्र' नाम की अधिकारिणी (हकदार) होती है, इससे पूर्व नहीं। परिवार वंश, जाति और, उसमें राज्य के आने के चिरकाल पीछे 'राष्ट्र'—यह सामाजिक उन्नति का क्रम है।"

आम तौर से हम किसी ऐसी जाति को राष्ट्र नहीं कह सकते, जिसे राजनीतिक अधिकार न हों, और जिस पर दूसरों की हुकूमत हो। असल में जिस जाति में राष्ट्रीयता के भाव पूरी तरह मौजूद हों, उसे कोई पराधीन नहीं कर सकता; यदि संयोग से वह कभी दूसरों के चंगुल में आ भी जाय तो वह जी-जान से पराधीनता के जाल को तोड़-फेंकने की कोशिश करती है, और प्राय: जल्दी ही या कुछ देर में, इस कार्य में सफल हो जाती है। मतलब यह कि राष्ट्र बहुत समय तक पराधीन नहीं रह सकता।

राष्ट्र-निर्माण और भारतवर्ष—सन् १९४७ से भारतवर्ष के दो टुकड़े भारतीय संघ, और पाकिस्तान—स्वतंत्र हो गए हैं। भारतवर्ष का अधिकांश भाग भारतीय संघ में है, और इसलिए इसे भारतवर्ष भी कह दिया जाता है। उपर्युक्त विभाजन शासन की दृष्टि से हुआ है। भौगोलिक, आर्थिक आदि दृष्टि से यह सर्वथा कृत्रिम है। अस्तु भारतवर्ष अब राजनैतिक दृष्टि से स्वतंत्र है। तथापि यहाँ की मौजूदा दुर्दशा एक खुला रहस्य है। हमारे कितने ही भाई दिन रात घोर मेहनत करने पर भी भर-पेट अन्न और शरीर ढकने योग्य कपड़ा नहीं पाते। उन्हें अपनी मानसिक उन्नति करने का अवसर ही नहीं मिलता। इसी तरह विदेशों में भी हमारा कुछ आदर-मान नहीं होता। कनाडा, दक्षिण-अफ्रीका, आस्ट्रेलिया आदि में हमारे प्रवासी भाई साधारण नागरिक अधिकारों से वंचित हैं, और बहुत दु:ख और अपमान का जीवन बिताते हैं। इन बातों का इलाज हम भारतीय राष्ट्र का निर्माण करने पर ही अच्छी तरह कर सकेंगे।

भारतवर्ष को राष्ट्र बनने की जरूरत संसार-हित की दृष्टि से भी है। किसी संस्था की उन्नति होने के लिए यह जरूरी है कि उसका हरेक सदस्य उन्नत हो, और सब सदस्यों की आपस में सहानुभूति और सहयोग हो। इस तरह संसार-रूपी विशाल संस्था की काफी उन्नति तभी होगी, जब उसका हरेक हिस्सा खुद उन्नत और स्वाधीन होते हुए एक-दूसरे की भरसक सहायता करेगा; गोरी और काली तथा योरपीय और एशियाई जातियों का भेद न होगा। जो जातियाँ निर्बल और पराधीन हैं, वे संसार की सुख शान्ति और उन्नति में बाधक हैं। इसलिए हरेक जाति को राष्ट्र बनना और संसार के हितसाधन में योग देना चाहिए। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की उदार नीति वाले भारतवर्ष का तो राष्ट्र बनना और भी ज्यादा जरूरी है।

दूसरा परिच्छेद

भारत में राष्ट्रीयता

उठो भाइयो! स्वावलम्बी बनें, सभी शीघ्र राष्ट्रीयता में सनें।
स्वदेशाभिमानी सुज्ञानी बनें, जगत में किसी के न आगे नमें॥

—हनुमत्प्रसाद जोशी

भारत में राष्ट्रीय भावों की प्राचीनता—यहाँ राष्ट्र और राष्ट्रीयता की कल्पना वैदिक साहित्य तक में पाई जाती है। यहाँ राष्ट्र के विराट् स्वरूप का विचार प्राचीन काल से है—उस प्राचीन काल से है, जब कि आजकल के, सभ्यता का

घमंड करनेवाले बहुत से राष्ट्रों का जन्म भी नही हुआ था। बहुत मुद्दत से भारतवर्ष के निवासी उत्तर से दक्षिण, और पूर्व से पश्चिम, सारे देश को एक भू-खंड मानते हैं। हिन्दुओं का अनगिनत वर्षों से किया जानेवाला पूजा-पाठ इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। संकल्प में हिन्दू सारे देश को श्रद्धा से याद करता है। स्नान के समय हिन्दू गंगा, यमुना, सरस्वती, गोदावरी, नर्मदा, सिन्धु और कावेरी इन सात नदियों के नाम भक्ति-भाव से लेता है *, जो इस देश के किसी खास हिस्से की न होकर सारे देश में फैली हुई हैं। इसी तरह द्वादश ज्योतिर्लिंग, और चारों धाम आदि के नाम प्राचीन हिन्दुओं की देश सम्बन्धी विशाल करना ज़ाहिर करते हैं। बौद्धों के मठ, आश्रम, विहार और स्तूप (टीले) भी किसी एक जगह न होकर भारतवर्ष भर में फैले हुए हैं, और इस देश की एकता की याद करा रहे हैं। राम और कृष्ण केवल उत्तर भारत वालों के ही पूज्य नहीं हैं, उनकी कथा का प्रचार हर जगह है। वेद, पुराण, श्रीमद्भगवद्गीता, रामायण और महाभारत सब की सम्मिलित सम्पत्ति है। जन्म-मरण, विवाह-शादी की रीतिरस्म, होली, दिवाली, श्रावणी, और दशहरे के त्योहार हर जगह मनाए जाते हैं। यही कारण है कि इस जमाने में यहाँ राष्ट्र-निर्माण सम्बन्धी विचारों का ऐसी आसानी से प्रचार हो रहा है; नहीं तो इतने बड़े हिस्से में, जहाँ कई तरह की अलहदगी मौजूद हो, एक राष्ट्र बनाने की, संसार में दूसरी मिसाल नहीं है।

---

* गंगे च यमुने चैव, गोदावरी सरस्वती।

भावों और व्यवहारों की एकता से भारतवर्ष की, बहुत प्राचीन काल में बड़ी उन्नति हो गई थी। सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि सभी विषयों में इस देश की शक्ति बढ़ी हुई थी। यही कारण था कि यहाँ समय-समय पर जो बहुत सी जातियाँ आईं, वे यहाँ के जन-समुदाय में हिलमिल गईं, और अन्त में यहाँ की ही हो गईं; अब यहाँ यूनानी, हूण, सीथियन आदि के अलग-अलग होने का पता नहीं लगता। हमला करनेवाले इस देश के मित्र और बन्धु बन गए। जीतनेवाले हार मान बैठे, उनकी सन्तान को भारत-सन्तान कहलाने में गौरव या बड़प्पन मालूम हुआ। यह बात अनेक सदियों तक रही।

मध्य-युग की स्थिति—धीरे-धीरे हालत बदलती गई। सम्राट् अशोक के बाद यहाँ शासन-सत्ता भी अकसर कमजोर आदमियों के अधिकार में रही। देश अलग-अलग हिस्सों में बँट गया, और हरेक प्रान्त के आदमी अपने आपको दूसरे प्रान्तवालों से जुदा समझने लगे। इस तरह जब मुसलमान यहाँ आए, भारतवर्ष की एकता घट गई थी, भारतीय समाज अस्वस्थ और रोगी था। उधर मुसलमानों में उत्साह और साहस था, और अपने नए धर्म के प्रचार के लिए खूब जोश था। भारतवर्ष का हिन्दू समाज मुसलमानों को अपने में मिलाने में असमर्थ रहा; यही नहीं, धीरे-धीरे उनकी विजय होने लगी। इसका कारण यह नहीं था कि यहाँ के सैनिक कमजोर थे, या वे युद्ध-कला में होशियार न थे। नहीं, यहाँ के आदमियों में निजी तौर पर वीरता आदि की कमी न थी; कमी था संगठन

और एकता के भावों की, सामूहिक बल की, या थोड़े में यों कहें कि कमी थी राष्ट्रीयता की। वीर और साहसी राजपूतों ने अपने संकुचित या अनुदार विचारों के कारण भारतवर्ष को अनजान में पराधीनता की बेड़ियाँ पहनादीं, चाहे उनमें हरेक बड़ी उम्र का पुरुष और स्त्री ही नहीं, बहुत से जवान लड़के लड़कियाँ मातृभूमि के लिए सब-कुछ न्योछावर कर रहीं थीं, और, अपने प्राणों और सगे-सम्बन्धियों का मोह छोड़कर मर मिटना हँसी खेल समझती थीं। अफसोस! मातृभूमि का मतलब आदमी अपने आस-पास की थोड़ी सी जमीन मानने लगे। हम अपनी शक्ति का उपयोग अपने भाई-बन्धुओं को नीचा दिखाने में कर रहे थे। देहली पर हमला होता है, और कन्नौज के 'जयचन्दों' को उसकी चिन्ता नहीं। क्यों? देहली को वे अपनी मातृभूमि का हिस्सा नहीं समझते। यह भाव अनेक रूपों में समय-समय पर काम करता रहा है। मतलब यह कि राष्ट्रीयता न होने से ही यहाँ मुसलमानों ने जोर पकड़ा। धीरे-धीरे बहुत से हिस्सों में उनका राज्य कायम होता गया।

यों तो और भी कितने ही मुसलिम शासकों ने हिन्दू जनता के साथ अच्छा व्यवहार किया, पर अकबर ने यहाँ एक मजबूत राष्ट्र बनाने की भी कोशिश की। लेकिन उसे अन्त तक वीरवर महाराणा प्रताप आदि हिन्दुओं का विश्वास, प्रेम और सहयोग न मिल सका। उसके बाद राष्ट्र-निर्माण की ओर वैसा ध्यान बहुत समय तक नहीं दिया गया। औरंगजेब आदि की अदूरदर्शिता और साम्प्रदायिकता से भारत के कई प्रान्तों में फिर जुदा-जुदा राज्य बन गए। अन्त में मराठों के झंडे के नीचे

एक राष्ट्र बनने लगा। लेकिन इसी बीच में कुछ योरपीय देशों के व्यापारियों ने यहाँ आकर अपना अपना अड्डा जमा लिया, और अपनी चतुराई और नम्रता से हिन्दू और मुसलमान नरेशों तथा जनता का मन मोह लिया। जब योरपीय कम्पनियों की आपसी डाह और प्रतिद्वन्द्विता बढ़ी तो उनके एक-दूसरे से घोर युद्ध हुए, जिनमें अज्ञान या फूट के कारण भारतवासियों ने भी हिस्सा बँटाया। अन्त में जीत अंगरेजों की रही, और इन्होंने सन् १८५७ तक छल बल और कौशल से धीरे-धीरे करके भारतवर्ष के बहुत से हिस्से पर प्रत्यक्ष या गौण रूप से अधिकार कर लिया सन् १८५८ ई० से यहाँ इन का शासन कानूनी तौर से स्थापित होगया।

["क्लाइव ने मीरकासिम के साथ व्यवहार में जिस तरीके का आश्रय लिया, उसे नैतिक नहीं कहा जा सकता; और न वारनहेस्टिंग्स की करनी ऐसी थी कि कोई भला अंगरेज उनपर अभिमान कर सके। सिन्ध की विजय का समर्थन स्वयं ब्रिटिश इतिहासकार भी नहीं करते। जिन दो युद्धों के फल-स्वरूप अंगरेज पंजाब में अपना कब्जा जमा सके, उनका उल्लेख करना यहाँ आवश्यक नहीं है। इतना ही कहना काफी है कि भारत में ब्रिटिश राज्य की स्थापना करने में साम, दाम, दंड, भेद की नीति से काम लिया गया।"—'लीडर']

अंगरेजी राज्य की स्थापना का रहस्य—भारतीय इतिहास की इस मंजिल पर हम फिर यह विचार करलें कि क्या कारण है कि सात-समुद्र-पार से आए हुए योरपियनों ने बिसातखानों और गिरजाघरों से निकल कर रणक्षेत्र में आने

का साहस किया और क्यों वे यहाँ सफल हुए। यह अब कोई रहस्य नहीं है कि योरपीय कम्पनियों ने अकसर चालाकियों और षड्यन्त्रों से काम लिया, और केवल खास हालतों में ही तलवार का उपयोग किया। उन्होंने भारतवर्ष के एक प्रान्त के सिपाहियों को कुछ सिक्कों का प्रलोभन देकर उनकी ताकत से दूसरे प्रान्त को, और कभी-कभी उसी प्रान्त को 'विजय' किया है; 'स्वामिभक्त' या 'नमकहलाल' भारतीय सैनिकों ने अपने भाइयों और बहनों पर हाथ साफ करके देश के एक-एक हिस्से की स्वाधीनता नष्ट की है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि हमारी हार का कारण शत्रु-पक्ष की वीरता नहीं थी, बल्कि यह था कि हम में संगठन या राष्ट्रीयता की कमी थी। असल में हम दूसरों से नहीं हारे, हम तो अपने ही आदमियों द्वारा पराजित हुए हैं। यदि भारतवर्ष में उस समय राष्ट्रीयता होती तो योरपीय कम्पनियों को, कोई भी कीमत देने से ऐसे भारतीय न मिलते जो भारतवर्ष को पराधीनता की बेड़ी पहनाने के लिए अस्त्र उठाते और सैनिक पद को लजाते।

भारतवर्ष में अंगरेजों की राजनीतिक प्रभुता कायम हो जाने का एक खास नतीजा यह हुआ कि हमारे ऐतिहासिक विकास का स्वाभाविक क्रम रुक गया। जिस समय संसार के दूसरे देशों में सामंतशाही या जागीरदारी कमजोर हो रही थी, भारतवर्ष में अंगरेजों ने अपनी हुकूमत बनाए रखने के लिए न केवल उसे नष्ट होने से बचाया, वरन् उस पर अपना पूर्ण नियन्त्रण रखते हुए उसे और मजबूत कर दिया।

शिक्षा, साहित्य आदि सभी क्षेत्रों में हम अपनेपन को खोकर असहाय हो रहे थे, और उन्नीसवीं सदी में हिन्दुओं में ब्रह्म समाज, आर्य समाज, थियोसोफीकल सोसायटी और रामकृष्ण मिशन आदि संस्थाओं ने, और मुसलमानों में सर सय्यद अहमद खाँ आदि ने धीरे-धीरे कई क्षेत्रों में सुधार किया—यह हमने खुलासा तौर पर अपनी 'भारतीय जागृति' में बताया है। हालांकि इन आन्दोलनों का खास विषय राजनीति नहीं था, इस क्षेत्र में भी इनसे बहुत सहायता मिली।

राजा राममोहन राय ने शिक्षा-प्रचार के अलावा कई राजनीतिक सुधारों की कोशिश की। स्वामी दयानन्द ने अपने 'सत्यार्थ प्रकाश' ग्रन्थ में निडर होकर यह लिखा कि 'विदेशी राज्य से, चाहे वह कितना ही अच्छा क्यों न हो, स्वदेशी राज्य, उसमें कितनी ही त्रुटियाँ क्यों न हों, अच्छा होता है।' स्वामी जी की प्रेरणा से लोगों में स्वदेशी, स्वराज्य और चक्रवर्ती साम्राज्य आदि की सोई हुई भावनाएँ फिर जाग उठीं। श्री० रामकृष्ण परमहंस और उनके शिष्य श्री० विवेकानन्द जी ने विदेशों में भारतीय धर्म के गौरव की घोषणा की। पीछे, श्रीमती एनीबिसेंट ने तो राजनीतिक तथा राष्ट्रीय आंदोलन में असली भाग लिया और भारतीय नेताओं के साथ कंधे से कंधा मिलाकर भारतीय स्वराज्य के लिए जेल आदि का कष्ट उठाया। इन महानुभावों के परिश्रम से भारतवर्ष को अपने गए हुए गौरव और प्राचीन आदर्शों की याद आई और लोगों में स्वाभिमान उदय हुआ, और इस तरह राष्ट्रीयता के विकास और प्रचार का रास्ता साफ हुआ।

विकास के कारण—हमें जरा यह भी विचार कर लेना चाहिए कि यहाँ राष्ट्रीयता के विकास के मूल कारण क्या हैं। असल में राष्ट्रीयता पैदा करनेवाली कोई खास एक-दो बातें नहीं हैं, बल्कि कई-एक हैं। इनमें पश्चिमी शिक्षा और अंगरेजी भाषा के प्रचार का अच्छा स्थान है, हालांकि वह गौण है। इनसे जो हानि हुई, उसे सब जानते हैं; तो भी यह मानना पड़ेगा कि इन्होंने राष्ट्रीय जागृति में खासा योग दिया है। पश्चिमी शिक्षा से हमें योरपीय राजनीतिज्ञों के स्वतंत्रता, राष्ट्रीयता और देशभक्ति आदि के विचारों का ही ज्ञान नहीं हुआ, हमें यह भी मालूम हुआ कि उन देशों में राष्ट्रीय आन्दोलन किस तरह हुए और हम उनका अपने यहाँ कहाँ तक अनुकरण कर सकते हैं। उन देशों के स्वराज्य तथा राजनीतिक अधिकार पाने के प्रयत्नों ने यहाँ के विचारकों को इस दिशा में आगे बढ़ने की प्रेरणा की।

फिर, अंगरेजी भाषा ने जुदा-जुदा प्रान्तों के शिक्षितों को परस्पर में विचार-विनिमय करने की सुविधा दी। उससे पहले कोई एक अन्तर्प्रान्तीय भाषा न होने से यह कार्य बहुत मुश्किल था। राष्ट्र-भाषा हिन्दी का उस समय ऐसा प्रचार नहीं हुआ था। हालाँकि अंगरेजी भाषा जनता की भाषा नहीं हो सकी तो भी पढ़े-लिखे लोगों के लिए उसने राष्ट्र-भाषा का सा काम दिया, इसमें सन्देह नहीं है। अंगरेजों के सम्पर्क के कारण, समय-समय पर यहाँ के सज्जनों ने विदेश-यात्रा की, और अच्छी तरह यह अनुभव किया कि स्वाधीन देश के नागरिकों और भारत-वासियों या प्रवासी भारतीयों की स्थिति में कितना अन्तर है।

वे अपने कंधों पर से विदेशी शासन का जुआ उतार फेंकने के लिए बेचैन होगए। इस प्रकार राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रगति बढ़ी।

दूसरे देशों की जागृति भी यहाँ राष्ट्रीयता के विकास में सहायक हुई। जापान को रूस पर विजय प्राप्त करते, तथा अरब, मिस्र, टर्की फारिस आदि को करवटें बदलते और जागते देख कर भारतवासियों को यह विचार होने लगा कि आखिर हम भी मनुष्य हैं. हम संगठित आन्दोलन करके अपने राष्ट्र का उद्धार क्यों न करें। जो हो, पहले-पीछे इन विविध बातों ने भारतवर्ष में राष्ट्रीयता के विकास में सहायता प्रदान की है। इस प्रसंग में भौतिक विज्ञान की उन्नति को भी भुलाया नहीं जा सकता। उन्नीसवीं सदी के मध्य में रेल, तार, डाक आदि के प्रचार और उन्नति से दूर-दूर के आदमियों के आपस में मिलने-जुलने और पत्र-व्यवहार में सुविधा हो गई। आमदरफ्त बढ़ने से प्रान्तीयता का भाव कम होने लगा, दृष्टिकोण में उदारता आने लगी। इसके अलावा, छापेखाने की उन्नति होने से पत्र-पत्रिका और पुस्तकें सर्वसाधारण के लिए सुलभ हो गईं। इनके द्वारा, खासकर राष्ट्रीय पत्र-पत्रिकाओं द्वारा, राष्ट्रीय भावों के प्रचार में भारी सहायता मिली।

भारतवर्ष के हिन्दू, मुसलमानों और जागीरदारों आदि का मिल कर, सन १८५७ की आजादी की लड़ाई में भाग लेना जहाँ यह ज़ाहिर करता है कि भारतवर्ष में राष्ट्रीय भावों का प्रचार शुरू हो गया था, उस युद्ध में सफलता न मिलने से यह भी मालूम होता है कि उस समय तक राष्ट्रीयता का विकास

अधूरा ही हो पाया था।* इस असफलता के बाद भी देश में समय-समय पर शासन के प्रति विद्रोह की भावनाओं का परिचय मिलता रहा; पर अब कोई संगठित दल ऐसा नहीं रहा, जो विदेशी सत्ता का भली प्रकार सामना करे। उस समय के समाज-संगठन के अनुसार दो ही विचार-धाराएँ प्रमुख थीं:— (१) सशस्त्र युद्ध (हथियारों से लड़ना) और (२) पराधीनता गुलामी स्वीकार करना। युद्ध राजाओं, सामन्तों और जागीरदारों के झंडे के नीचे ही हो सकता था। उनकी नाकामयाबी के बाद राजनीतिक अवस्था ऐसी हो गई, कि हमने विदेशी राज्य को स्वीकार सा कर लिया, और उसके अनुसार अपने-आपको ढालने का काम शुरू कर दिया। हाँ, जब कभी कोई बात विशेष कष्टदायक या अपमानजनक मालूम हुई तो उसके 'सुधार' करने की, कुछ सुविधाएँ प्राप्त करने की, कोशिश की गई। इस तरह क्रान्ति की बात पीछे पड़ गई, और मैदान विधानवाद (कानूनी या कागजी कार्रवाई) का समर्थन करनेवालों के हाथ रह गया।

कांग्रेस और राष्ट्रीयता—ऐसे ही विचारों का यह नतीजा था कि दूसरी संस्थाओं के अलावा यहाँ सन् १८८५ में काँग्रेस या राष्ट्रसभा का जन्म हुआ। इसके संचालक या कर्ता-धर्ता

* इस असफलता का एक खास कारण यह था कि हालांकि इस युद्ध में हिस्सा लेनेवाले दल यह अवश्य चाहते थे कि भारत से अंगरेजी सत्ता हटा दी जाय, उनके अन्तिम ध्येय में समता नहीं थी, कोई दल कुछ चाहता था, कोई कुछ। सब दलों में, जैसा चाहिए, घनिष्ठ सहयोग न था।

विधानवादी थे। क्रांतिकारी भावना या कार्यक्रम उनके पास जरा भी न था। शुरू में कांग्रेस मुट्ठी-भर आदमियों की संस्था थी, लेकिन धीरे-धीरे इसका संगठन नगर-नगर और गाँव-गाँव में हो गया। यह जनता की संस्था हो गई। इसकी विशेषता यह है कि इसने भारतीयों के सामने आज़ादी हासिल करने का सवाल रखा, जो राष्ट्रीयता के भाव बढ़ाने और मज़बूत करने का सबसे बड़ा साधन होता है। कांग्रेस ने देश की आजादी या स्वतंत्रता के आन्दोलन का संचालन करके भारतवर्ष के दूर-दूर रहनेवाले आदमियों से प्रान्तीयता के अनुदार भाव को हटाने की कोशिश की है, और यहाँ रहनेवाली जातियों के आदमियों को साम्प्रदायिक विचारों से ऊपर उठने की प्रेरणा की है। जैसे-जैसे कांग्रेस की आयु तथा शक्ति बढ़ी है, उसके द्वारा जनता में भारतीयता की भावना पैदा करने का आन्दोलन ज्यादा जोरदार होता रहा है।

इसमें शक नहीं, अभी लक्ष्य प्राप्त होने में कुछ कमी है। कितनी ही साम्प्रदायिक संस्थाएँ अपना अलग-अलग राग अलापती रहती हैं। निजाम हैदराबाद भारतीय संघ से विद्रोह करने की ठानता है, कशमीर में पाकिस्तान से आए हुए फौज आदि के कर्मचारी निर्दोष या बेगुनाह जनता को सताते हैं; और भारतीय संघ के कितने ही मुसलमान हैदराबाद और पाकिस्तान की साफ तौर से निन्दा करने का साहस नहीं करते, वरन् कुछ तो उनसे छिपी सहानुभूति रखते हैं, और पंचमांगी या भीतरी शत्रु का काम करते पकड़े गए हैं। रेल और प्रबन्ध विभाग के सरकारी नौकर जब मौका मिले, रिश्वत लेने से नहीं

चूकते। मुनाफाखोरी, खाने-पीने के सामान में मिलावट करना और ग्राहकों को धोखा देना तो आम बुराइयाँ हैं। इन बातों से साफ जाहिर है कि देश में राष्ट्रीयता का काफी विकास नहीं हुआ है। नहीं तो किसी भी प्रान्त, वर्ग या जाति का कोई भी आदमी ऐसा नहीं मिलना चाहिए, जो अपने स्वार्थ या खुदगर्जी के लिए राष्ट्र-विरोधी कार्य करे। जो हो, निराशा की बात नहीं; हालांकि समय-समय पर हमारी प्रगति रुकी हुई मालूम पड़ी है, व्यापक दृष्टि से देखें तो राष्ट्रीयता बराबर बढ़ती जा रही है। अब हमने स्वाधीनता प्राप्त कर ली है तो एकता तथा राष्ट्रीयता का बढ़ना और अधिक स्वाभाविक है। इस विषय में खुलासा आगे लिखा जायगा।

तीसरा परिच्छेद
राष्ट्रीयता के साधन

देश के सब निवासी देश से हित रखें, और अपने देश के विरुद्ध विदेशियों से मिलना पाप समझें तो जुदी-जुदी जाति, धर्म और भाषा के रखनेवाले भी एक राष्ट्र कहला सकते हैं।

—प्रो० बालकृष्ण शर्मा

पिछले परिच्छेदों में इस बात का विचार किया गया है कि राष्ट्र कैसे बनता है, और भारतवर्ष में राष्ट्रीयता का कहाँ तक विकास हुआ है। यह भी जान लेना आवश्यक है कि राष्ट्रीयता में मदद देनेवाले साधन क्या-क्या होते हैं, और भारतवर्ष में उनकी दशा कैसी है। मिसाल के तौर पर भौगोलिक विचार से

यह देश कैसा है; यहाँ भाषा, धर्म, जाति और संस्कृति अलग-अलग हैं, या उनमें एकता की भावना है; शासन का प्रभाव कैसा पड़ता रहा है।

भौगोलिक स्थिति—मनुष्य पर भौगोलिक यानी भूमि सम्बन्धी बातों का बड़ा प्रभाव पड़ता है। कुछ समय पहले योरपीय समाज-शास्त्रियों का एक दल मनुष्यों के विविध गुण-दोषों, उनके स्वभाव, रहन-सहन, खान-पान, जरूरतों, संस्थाओं, आन्दोलनों तथा इतिहास आदि का एकमात्र कारण भौगोलिक स्थिति मानता था। अब इस सिद्धान्त का खण्डन हो चुका है, तथा आमदरफ्त के साधनों की वृद्धि ने भौगोलिक स्थिति का महत्व पहले से कम कर दिया है, तो भी जमीन के किसी हिस्से को देश मानने के लिए उसकी भौगोलिक एकता का विचार करना जरूरी है।

संसार में कितने ही राष्ट्र ऐसे हैं, जिनकी कोई कुदरती हद नहीं है, वे दीवार आदि की बनावटी सीमा द्वारा अपने पास के राष्ट्रों से अलग किए गए हैं; उस सीमा के सम्बन्ध में अकसर झगड़ा या वाद-विवाद होता रहता है। भारतवर्ष में ऐसा नहीं है; यहाँ उत्तर में हिमालय की दुर्गम ऊँची और विशाल दीवार प्रकृति ने ही खड़ी कर रखी है, और इस देश के बाकी तीन ओर हिन्द महासागर होने से जल ही जल है। सिर्फ पश्चिम की ओर एक छोटा सा रास्ता पर्वत-मालाओं के बीच में से है; प्राचीन समय में जो विदेशी आए वे इसी रास्ते से होकर आ सके थे। इस तरह भौगोलिक दृष्टि से अठारह लाख वर्ग मील के क्षेत्रफल वाली, उनतालीस करोड़ आदमियों की, उस निवास-

भूमि के एक देश होने में सन्देह नहीं हो सकता, जिसकी लम्बाई चौड़ाई अठारह-अठारह सौ मील के लगभग है। भारतवर्ष के इस क्षेत्र में कुछ बड़ी-बड़ी नदियाँ और पहाड़ ज़रूर हैं, लेकिन सभ्यता की वृद्धि, और आमदरफ्त के साधनों की उन्नति के समय में इनसे देश की एकता में बाधा नहीं पहुँचती।*

भाषा—राष्ट्रीयता की दृष्टि से भाषा की एकता का महत्व साफ ज़ाहिर है। जो लोग हमारी भाषा ही नहीं समझते, वे हमसे भौगोलिक सम्बन्ध या रिश्तेदारी रखते हुए भी हमारे सुख-दुःख में क्या साथ दे सकते हैं! वे तो हमें पराए ही मालूम होंगे। एक ही भाषा बोलनेवालों में विचार-विनिमय की, यानी एक-दूसरे के विचार जानने की सुविधा होती है, और उनमें धीरे धीरे विचारों की एकता हो जाती है। और, संसार में, खासकर प्रजातंत्र युग में, विचारों का ही राज्य होता है।

कुछ पश्चिमी तथा कई भारतीय लेखक यहाँ की भाषा की अनेकता के रोग को बहुत भयंकर बतलाकर कहने लगते हैं कि भारतवर्ष एक राष्ट्र न पहले कभी बना, न अब है, और न आगे ही कभी हो सकता है। हमें उनकी अत्युक्ति, निराशा और अनुदार दृष्टि पर दया आती है। योरप में कई ऐसे राष्ट्र मौजूद हैं, जिनमें एक से अधिक भाषाएँ प्रचलित हैं। मिसाल के तौर स्विटजरलैंड के प्रजातंत्रीय राष्ट्र की पार्लिमेंट के मेम्बर तीन भाषाओं में से चाहे जिसका व्यवहार कर सकते हैं; फ्रांस का

---

* साम्प्रदायिक कट्टरता तथा कूटनीतिक चालों से इस देश का कुछ हिस्सा अलग करके पाकिस्तान राज्य की रचना की गई है, परन्तु भौगोलिक दृष्टि से उसका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है।

राष्ट्र तीन भाषाओं से कम में काम नहीं चलाता रहा। अमरीका के संयुक्त राज्यों की सी जुदा-जुदा भाषाएँ तो शायद किसी भी देश में नहीं तो भी वे एक मजबूत राष्ट्र माने जाते हैं। ब्रिटेन की अंगरेजी, वेल्श और स्काच भाषाओं में वैसा ही भेद है, जैसा भारतवर्ष के दो दूर-दूर के प्रान्तों की भाषाओं में है, तो भी उसकी राष्ट्रीयता को कोई अस्वीकार नहीं करता।

अब भारतवर्ष की बात लीजिए। प्राचीन समय में चिरकाल तक संस्कृत यहाँ की देश-भाषा रही। अब भी यह देश भर के हिन्दुओं की धार्मिक भाषा है, और पूजा-पाठ, तथा धर्म और वैद्यक आदि के पढ़ने पढ़ाने के काम में आती है। बीच में सारे देश की कोई एक प्रधान भाषा न रही; हरेक प्रान्त की भाषा जुदा-जुदा हो गई। लेकिन किसी लेखक की यह समझ ठीक नहीं है कि भारतवर्ष में सैकड़ों भाषाएँ हैं, क्योंकि ऐसा समझने में भाषा और बोली का फ़रक भुला दिया जाता है, और सब को भाषा ही मान कर उनकी संख्या अनगिनत कर दी जाती है। असल में यहाँ की भाषाएँ अंगुलियों पर गिनी जा सकती हैं। उनमें से मुख्य ये हैं—हिन्दी या उर्दू (जिसके सरल रूप को हिन्दुस्तानी भी कहते हैं) बंगला, मराठी, गुजराती, कन्नड़, तामिल और तेलगू। शेष सब इन्हीं में से किसी-न-किसी के अन्तर्गत बोलियाँ हैं; जिनकी संख्या लोगों के आपसी सम्बन्ध तथा सभ्यता बढ़ने के साथ घटती जा रही है। इन भाषाओं में से कई एक, संस्कृत से गहरा सम्बन्ध रखती हैं और इसलिए एक दूसरे से थोड़ी-बहुत मिलती हैं। फिर, इन भाषाओं में भी हिन्दी ऐसी है, जो बिहारी, राजस्थानी, पंजाबी, आदि अपनी

बोलियों सहित भारतवर्ष के हर सात आदमियों में से तीन की मातृभाषा है, जिसे वे दिन-रात बोलते हैं। 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा'* के उद्योग से मदरास आदि में भी हिन्दी का प्रचार बढ़ता जा रहा है। और, राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति की कोशिश से दूसरे अहिन्दी प्रान्तों में अब हिन्दी बोलने और समझने वाले आदमी जगह-जगह मिल जाते हैं, और तीन-चौथाई से अधिक भारतवासी हिन्दी समझ सकते हैं। हर प्रान्त से हिन्दी की पत्र-पत्रिकाएँ और पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं। इस प्रकार इस भाषा में भारतवर्ष की राष्ट्र-भाषा होने की योग्यता में कोई सन्देह नहीं है।

लिपि—पढ़े-लिखे आदमियों के विचार एक-दूसरे को भली-भाँति मालूम होने के लिए, समान भाषा के अलावा समान लिपि की आवश्यकता हुआ करती है। लिपि में खास तौर से ये गुण देखे जाते हैं - (१) सौंदर्य या खूबसूरती (२) शीघ्र-लेखन या जल्दी लिखना (३) निश्चय अर्थात् जो लिखा जाय, वही पढ़ा जाय; उसमें शंका न हो। इस विचार से भारतवर्ष भर की (एवं संसार के विविध देशों की) प्रचलित लिपियों में देवनागरी सब से अच्छी है, वैसे कुछ आदमी अपनी प्रान्तीय लिपि का समर्थन किया ही करते हैं और बहुत से मुसलमान तो फारसी लिपि का पक्षपात करते हैं। कुछ सज्जन यहाँ रोमन लिपि के प्रचार की बात करते हैं। परन्तु इसमें कुछ सार नहीं है। इसका विशेष विचार आगे किया जायगा।

धर्म या मत—इस सम्बन्ध में पहले तो यही विचार

* इसे अब 'दक्षिण भारत हिन्दुस्तानी प्रचार सभा' कहते हैं।

करने की बात है कि किसी देश की एकता के लिए धार्मिक विश्वासों की एकता कहाँ तक अनिवार्य या लाजमी है। योरोपीय देशों के इतिहास में एक समय था, जब एक ईसाई सम्प्रदाय की स्त्री का विवाह उसी ईसाई सम्प्रदाय के पुरुष से होता था, ईसाई मत के दूसरे सम्प्रदाय के पुरुष के साथ नहीं हो सकता था। रोमन-केथलिक ईसाई प्रोटेस्टेन्ट ईसाइयों के खून के प्यासे थे; और प्रोटेस्टेंट ऐसे अवसर की खोज में रहते थे, जब वे रोमन-केथलिकों को नेस्तनाबूद कर दें। उस समय वहाँ यह सिद्धान्त माना जाता था कि एक देश में एक ही धर्म के आदमी रहें तो उसकी एकता मजबूत होगी। लेकिन अब समय ने उन देशों को अधिक सहनशील बना दिया है। जुदा-जुदा धर्मों में विश्वास रखनेवाले आदमी भी एक देश में आम तौर पर सुख चैन से रह सकते हैं।

भारतवर्ष में धार्मिक सहनशीलता सदा रही है। यहाँ कभी ऐसी रोमांचकारी बातें देखने में नहीं आईं, जिनसे ईसाई देशों के इतिहास भरे पड़े हैं। भारतवर्ष में हिन्दू, बौद्ध और पारसी साथ-साथ रहे हैं। मुसलमानों की हुकूमत में भी यहाँ इतना भेद-भाव नहीं रहा, जितना स्वार्थी लेखकों ने सिद्ध करने की कोशिश की है। इने-गिने बादशाहों या उनके कुछ कट्टर आदमियों के दुराग्रह के अलावा, जनता में कोई विशेष धार्मिक झगड़ा नहीं हुआ। हिन्दू-मुसलमान जन-साधारण यहाँ उस समय तक बराबर प्रेम से रहे, जब तक कि योरपियनों ने अपनी ताकत बढ़ाने या अपने पैर जमाने के लिए उनमें फूट न डाली। अस्तु, अब दोनों ही धर्मवालों में हर प्रकार के विचारवाले आदमी हैं।

दोनों में मूर्तिपूजक हैं, और मूर्ति-विरोधी भी; भाग्यवादी हैं; और कर्मवादी भी। बंगाल और विहार के कितने ही मुसलमान, ब्राह्मणों के द्वारा, हिन्दू-मन्दिरों में पूजा करवाते हैं। इसी तरह बहुत से हिन्दू, मुसलमानों के मकबरों और ताजियों पर, शीरनी ही नहीं चढ़ाते, ताजिये भी रखते और मनौतियाँ करते हैं। इन बातों का ज्यादा ब्योरा देने की जरूरत नहीं। हम यह समझने लग गए हैं कि बाहरी मत-भेद व्यर्थ या फजूल है, धर्म के मूल तत्व अब राष्ट्रीय कर्त्तव्य का रूप धारण कर रहे हैं।

रीति-रस्म और रहन-सहन—यदि किसी देश के आदमियों में रीति-रस्म या आचार व्यवहार जुदा-जुदा हो तो ज्यादा चिन्ता की बात नहीं। ऐसा कौनसा राष्ट्र है, जिसमें ये बिलकुल एक समान हों! यह बात अमल में नहीं आ सकती और जरूरी भी नहीं कि करोड़ों आदमी एक ही तरह की रीति-रस्म बर्तें। थोड़ी सी भिन्नता तो सुन्दर तथा उपयोगी ही होती है। फिर, दूसरे देशों के मुकाबले, भारतवर्ष की रीति-रस्मों में अधिक समानता है। विवाह-शादी, जन्म-मरण, रहन-सहन, तीज-त्योहार आदि की खास-खास बातों में आम तौर पर एकता ही है।

श्री० पंडित सुन्दरलाल जी ने मद्रास में, अपने दीक्षान्त भाषण में कहा था—"कम से कम उत्तर भारत में हर हिन्दू शादी के समय 'नौशाह' बनता है। हिन्दू की शादी बिना सेहरे और जामे के नहीं होती, और करोड़ों मुसलमानों की शादी बिना कंगन के। सेहरा और जामा मुसलमानी हैं, और कंगन हिन्दू। मुझे नहीं मालूम, भारत में कितने मुसलमान घर मिलेंगे, जिनमें लड़कों और लड़कियों का कंछेदन और नकछेदन नहीं होता। दोनों रिवाज हिन्दू हैं, जिनका इस्लाम से

कोई सम्बन्ध नहीं। मुझे इन मिसालों को बढ़ाने की ज़रूरत नहीं है। इस तरह की छोटी-छोटी बातों में, यदि हम ईमानदारी से देखें तो अनेक बातों में एक पेशावर के हिन्दू और एक मद्रास के हिन्दू में कहीं अधिक अन्तर है, बनिस्बत एक पेशावर के हिन्दू और पेशावर के मुसलमान में।"

पहनावे की बात लीजिए। साधारण हिन्दू और मुसलमानों में—पुरुष हों या स्त्री—उनकी पोशाक में कोई साफ भेद नजर नहीं आता। कुछ मुसलमानों ने अपनी समाज में तुर्की टोपी और तहमत का विशेष प्रचार करना चाहा। पर इसमें सफलता न मिली। साधारण तौर से मुसलमान जिस प्रान्त में रहते हैं, वहाँ की ही पोशाक पहनते हैं। पहले टोप यहाँ ज्यादातर ईसाई लगाते थे; अब बहुत से हिन्दू और मुसलमान भी लगाते हैं। गाँधी टोपी को सर्वसाधारण ने अपना लिया है। इस प्रकार पोशाक से भेद-भाव और अलहदगी का इतना परिचय नहीं मिलता, जितना एकता का।

जातियाँ—एक ही पूर्वजों की सन्तान की शारीरिक बनावट, शकल-सूरत, हाव-भाव और विचार-शैली में बहुत-कुछ समानता अथवा एकता होती है, खासकर जबकि वे बहुत मुद्दत तक एक ही जगह रहती रही हों। प्राचीन काल में प्रत्येक जाति विवाह सम्बन्धी कठोर नियम जारी करके अपना रक्त शुद्ध रखने और इस प्रकार अपनी अलहदगी बनाई रखने की बड़ी कोशिश करती थी। मिसाल के तौर पर भारतीय आर्यों में अभी तक भी इसका बहुत विचार रहा है। लेकिन ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, इसमें अन्तर आता गया; आमदरफ्त की सुविधाओं ने भी विविध जातियों की मिलावट में मदद दी।

अब कोई जाति बिलकुल शुद्ध रक्त का अभिमान नहीं कर सकती।

पुराने ज़माने में एक जाति के आदमी अक्सर साथ-साथ एक ही देश में रहते थे, पीछे वे अपनी तरह-तरह की जरूरतों के कारण, अलग-अलग देशों से सम्बन्ध बढ़ाने तथा उनमें रहने लगे। आजकल तो हरेक देश में कई जातियों के आदमी मिलते हैं और कोई देश केवल एक ही जाति का निवास-स्थान होने का दावा नहीं कर सकता; हाँ बहुत से देशों में एक-एक जाति की प्रधानता जरूर है। जो हो, कई जातियों के होने से किसी देश की एकता में बाधा पड़ना जरूरी नहीं है। उन्नत देशों में प्रत्येक जाति अपने निजी व्यवहार में स्वाधीन रहती है, और जब पूरे देश का सवाल आता है अथवा राजनीतिक विषय पेश होते हैं, तो सब आपस में मिलकर उसमें योग देती हैं।

अब इस सम्बन्ध में भारतवर्ष की स्थिति का विचार करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि बीच में यहाँ हिन्दुओं के वर्णविभाग की अवस्था बहुत अस्त-व्यस्त हो गई, एक जाति में अनेक उपजातियाँ, और एक-एक उपजाति के अनेक छोटे-छोटे भाग बन गए। तो भी हताश होने की बात नहीं है। कई वर्षों से ब्राह्मण-सभा, क्षत्री-सभा, वैश्य-सभा, आदि अपनी-अपनी जाति के अन्तर्गत उपजातियों को एक बड़े सूत्र में संगठित करने की कोशिश कर रही हैं। जाति-पाँति तोड़ने के पक्षवालों की भी संख्या धीरे-धीरे बढ़ रही है। हाँ, इस दिशा में अभी काफी प्रगति नहीं हो रही है।

असल में भारतवर्ष में दो ही जातियाँ प्रधान हैं—आर्य और

द्राविड़; इनके अलावा यहाँ कुछ ईरानी और मंगोलियन मिलावट है।❀ भारतवर्ष जैसे महान, फैले हुए और पुराने देश में इतना-सा जाति-भेद कुछ ज्यादा नहीं है।

योरप अमरीका आदि राष्ट्रों में, जो भारतवर्ष के साधारण प्रान्तों के समान हैं, जाति-भेद कहीं अधिक है। कनाडा में अंगरेज और फ्रांसीसी का पुराना भेद-भाव मौजूद है। अमरीका के संयुक्त-राज्य में तो दुनिया भर की, खासकर योरप की, विविध जातियों के आदमियों ने अपना घर बनाया है, फिर भी वह राष्ट्रीयता में अपना सिर ऊँचा किए हुए है। स्विटजरलैंड एक बहुत छोटा-सा देश है, फिर भी उसकी जनता कई जातियों की बनी हुई है। खुद ग्रेट-ब्रिटेन (इंगलैंड और स्काटलैंड) एक मामूली टापू है, उसके निवासियों के पूर्वज अलग-अलग जातियों के थे। दक्षिण अफ्रीका में बोअरों और अगरेजों का युद्ध अभी कल की बात है। फिर भी कोई इन देशों की राष्ट्रीयता में संदेह नहीं कर सकता। निदान, भारतवर्ष की जाति सम्बन्धी स्थिति, राष्ट्रीयता के विचार से, असंतोषप्रद नहीं है।

संस्कृति—एकता के सम्बन्ध में संस्कृति के दो रूप होते हैं, बाहरी और भीतरी। बाहरी संस्कृति का सम्बन्ध भाषा, खान-पान, रीति-रस्म ब्याह-शादी आदि से होता है; और भीतरी संस्कृति का, धार्मिक और आध्यात्मिक विचारों से।

❀ ज्यादातर मुसलमान भारतीय आर्यों के ही वंश के हैं, बाहर से तो बहुत ही थोड़े आदमी आए थे; स्त्रियाँ तो आईं ही नहीं; पुरुषों का अकसर यहाँ वालों से रक्त-सम्बन्ध या रिश्तेदारी हो गई।

भारतवर्ष के सन्थाल आदि पहाड़ी अथवा जंगली आदमियों को छोड़कर, जिनकी सख्या कुल देश की जनता का बहुत ही थोड़ा हिस्सा है, दूसरी जातियों के आदमियों की संस्कृति में, उनके हजारों वर्षों के पारस्परिक मेलजोल और संग-साथ के कारण अजीब एकता आ गई है। आमदरफ्त के साधनों की वृद्धि ने भी इसमें बड़ी सहायता की है। दक्षिण के द्राविड़ों ने आर्यों की वर्णाश्रम आदि प्रथाओं को स्वयं आर्यों से भी अधिक अपनालिया है; और, वे अब मानो आर्य ही बन गए हैं।

कुछ आदमी हिन्दू मुसलमानों की संस्कृति अलग-अलग होने पर बहुत जोर दिया करते हैं, पर उनकी बात बहुत बढ़ा-चढ़ा कर कही हुई होती है, जैसा कि रीति-रस्म या रहनसहन आदि के सम्बन्ध में ऊपर के कथन से जाहिर है। यह ठीक है कि शुरू में मुसलमानों का विशेष सम्बन्ध अरब की संस्कृति से था, और हिन्दुओं का आर्य सस्कृति से। लेकिन मुसलमानों के यहाँ आकर बस जाने और सैकड़ों वर्ष हिन्दुओं के साथ मिल-जुलकर रहने से इन दोनों जातियों की संस्कृतियों की एक-दूसरे पर गहरी छाप पड़ती गई, और दोनों संस्कृतियों के मेल से एक नई संस्कृति बनने लगी। अंगरेजों के यहाँ आने के समय तक संयुक्त संस्कृति की जड़ अच्छी तरह नहीं जमी थी, इसलिए वह अंगरेजों की (पाश्चात्य) संस्कृति की टक्कर सहन न कर सकी, और हिन्दू और मुसलमान दोनों अपने जुदा-जुदा आदर्शों को खोजने लग गए। फिर, अंगरेज शासकों की कूट-नीति से यहाँ फरक बढ़ता गया। अब न शुद्ध रूप में हिन्दुओं

की आर्य संस्कृति ही वापिस आ सकती है, और न मुसलमानों की अरबी संस्कृति ही। हिन्दू मुसलमान दोनों की बहुत-कुछ एक ही संस्कृति होगी; वह होगी, भारतीय या हिन्दुस्तानी संस्कृति।

भारतवर्ष में सर्वसाधारण जनता तो गाँवों में रहती है, और वहाँ हिन्दुओं के त्योहार मुसलमान, और मुसलमानों के त्योहार हिन्दू, खुशी से मनाते हैं। रक्षा-बन्धन के दिन मुसलमान लड़कियाँ हिन्दुओं को पोंहची बाँधती हैं। दिवाली के दिन बहुत से मुसलमान भी अपने-अपने घरों पर रोशनी करते हैं। बालक बड़ी उम्र वालों को, चाहे वे किसी जाति के हों, चाचा, ताऊ या बाबा आदि कहते हैं। इस प्रकार ग्राम-जीवन हमारी एकता का जीता-जागता सबूत है; और, ग्राम-निवासी हिन्दुओं और मुसलमानों की संस्कृति में विशेष अन्तर नहीं है। जो अन्तर दिखाई देता है, वह अकसर नगर निवासियों में है, जिनकी संख्या दस फीसदी से अधिक नहीं है। कालान्तर में इनकी संस्कृति में भी बहुत कुछ समन्वय या मेल हो जायगा; और न भी हो तो कोई चिन्ता की बात नहीं है। कितने ही देशों में कई-कई संस्कृतियों के आदमी हैं। इस तरह संस्कृति के आधार पर भारतवर्ष के राष्ट्र-निर्माण में सन्देह करना भारी भ्रम है।

पाकिस्तान से सब हिन्दुओं को निकाल कर वहां इसलामी संस्कृति कायम करने की बात इस युग की लहर के विरुद्ध और अव्यावहारिक होने के अलावा स्वयं पाकिस्ताम के लिए बहुत घातक है।

राजनीतिक एकता—राष्ट्रीयता के लिए एक राज्य का होना बहुत उपयोगी होता है। यदि किसी देश के अलग-अलग

हिस्सों में जुदा-जुदा शासन या हुकूमतें हों तो उसके निवासियों में राजनीतिक एकता की भावना जागृत नहीं होती, वे हरेक बात को तंग प्रान्तीय विचार से देखते हैं; और इसलिए उनका राष्ट्र-निर्माण का मार्ग साफ नहीं होता।

भारतवर्ष में, प्राचीन काल में चक्रवर्ती शासनपद्धति थी। चक्रवर्ती सम्राट् सबसे ऊपर माना जाता था, वैसे प्रत्येक राज्य अपना भीतरी प्रबन्ध करने में स्वतन्त्र रहता था। धीरे-धीरे इस स्थिति में परिवर्तन हुआ। ईसा से दो तीन सदी पहले यहाँ कई बड़े-बड़े साम्राज्य बनने लगे। अब से सवा दो हजार वर्ष पहले अशोक के समय में, भारतवासियों ने एक विशाल भारतीय राज्य का निर्माण किया, जिसे संसार की उस समय की राजनीति में बेमिसाल समझा जाता है। पीछे सम्राट् अकबर ने इस देश को बहुत-कुछ राजनीतिक एकता प्रदान की, परन्तु अठारवीं सदी में उसके उत्तराधिकारियों या वारिसों की त्रुटियों के कारण, यहाँ जुदा जुदा ताकतों ने जोर पकड़ा और राजनीतिक फूट के कारण उस शताब्दी के पिछले हिस्से से यहाँ अंगरेजों के पाँव जमने लगे।

अंगरेजो के शासन से भारत को जो नुकसान हुआ, वह अब खुला रहस्य है, पर यह भी स्वीकार किया जाना चाहिए कि उनकी अधीनता में गौण रूप से भारतवर्ष की राजनीतिक एकता बढ़ी है। देश में रेल, तार, डाक आदि की व्यवस्था होने से आमदरफ़्त, सम्पर्क और पत्र-व्यवहार आदि बढ़ा❀। अंगरेजी

❀ रेलों के प्रचार में शासकों का खास उद्देश्य सैनिक सुविधा तथा देश पर अपना अधिकार बनाए रखने की भावना थी।

भाषा का प्रचार होने से अलग-अलग प्रान्तों के विद्वानों को एक दूसरे के विचार जानने की सुविधा होने की बात पहले कही जा चुकी है। † फिर, अंगरेजों के शासन में राजनीति का अमल हर जगह एकसा होने लगा, दासता में सब की समानता हो गई। समान परतंत्रता को हटाने के लिए संगठित आन्दोलन होने लगा; सब प्रान्तों तथा समस्त जातियों और श्रेणियों के आदमी अपने भेद-भावों को भुलाकर राजनीतिक एकता प्राप्त करने लगे और इसमें एक हद तक सफल भी हो गए।

दूसरी बातें—राष्ट्रीयता को बढ़ानेवाली एक बात जनता के हानि-लाभ की समानता है। जो आदमी एक देश में रहते हों, जिनके धर्म, भाषा, जाति और संस्कृति आदि में बहुत कुछ समानता या मेल हो गया हो, जिनका शासन एक ही पद्धति से एक ही समुदाय द्वारा होता हो, उनके स्वार्थ तथा हानि.लाभ एक ही हो जाते हैं। इस लिए इसका पृथक् महत्व नहीं है।

इस तरह भाषा, संस्कृति, जाति, धर्म आदि के विचार से ऊपर किए हुए विवेचन से यह स्पष्ट है कि यहाँ एकता के किसी साधन की कमी नहीं है; यों थोड़ी-बहुत विभिन्नता या भेद-भाव अवश्य है, पर ऐसा तो सभी देशों में होता है।

राष्ट्रीयता पर नया प्रहार; गम्भीरता की आवश्यकता—इस समय हमारे राष्ट्रीय इतिहास में एक महान घटना

---

† अंगरेजी शिक्षा का मूल उद्देश्य तो सरकार को सस्ते क्लर्क आदि मिलने के अलावा, यह था कि 'भारतवासियों की एक ऐसी श्रेणी तैयार हो जाय, जिसके आदमी रक्त और रंग में भारतीय ही रहें, परन्तु रुचि, विचार, भाषा और भावों में पूरे अंगरेज हों।'

(दुर्घटना ?) हो गई है। भारतवासियों की स्वाधीनता के लिए मर मिटने की भावना का परिचय प्राप्त कर, तथा कुछ अंश में संसार की परिस्थिति से विवश होकर अंगरेजों ने गत वर्ष (१९४७) भारतवर्ष छोड़ने का निश्चय किया। पर जाते-जाते भी उन्होंने यहाँ के महत्वाकांक्षी मुसलिम नेताओं द्वारा फैलाई हुई साम्प्रदायिक कट्टरता का अनुचित लाभ उठाकर अपनी कूटनीति से इस देश को दो टुकड़ों में बाँट दिया। भारतवर्ष स्वतन्त्र हुआ, पर खंडित होकर। जब कि देश स्वतन्त्रता पाकर एक राष्ट्र बनने के लिए बड़ी मंजिल तय करने ही वाला था, यहाँ विधान के अनुसार दो राज्य स्थापित कर दिए गए। हमारी राष्ट्रीयता पर यह कुटिल कूटनीतिक प्रहार है। जख्म ताजा है और गहरा है। सम्भव है, इसके भरने में पाँच-दस वर्ष भी लग जायँ। पर राष्ट्रों के जीवन में इतना सा समय क्या होता है! इतिहास के विद्यार्थी को गम्भीर, और व्यापक दृष्टिकोण वाला होना चाहिए।

निदान, भारतवर्ष में प्राचीन काल में एकता रही है, और अब पिछली सदियों के पराधीनता से होनेवाले अस्थायी विकारों को हटाकर यह एक बलवान राष्ट्र बनता जा रहा है, जो किसी जाति विशेष या प्रान्त विशेष के नामवाला न होगा; वरन्, भारतीय राष्ट्र के शुभ नाम से पुकारा जायगा। लेकिन हमें इसके दर्शन करने के लिए पूर्ण विश्वास और आशा बनाई रखनी चाहिए; कष्टों की परवाह न करते हुए धीरज से लगातार राष्ट्र-निर्माण का कार्य करते रहना चाहिए; सफलता निश्चित है।

———

चौथा परिच्छेद

राष्ट्र-बल

[जनसंख्या, स्वास्थ्य-रक्षा और सदाचार]

"यदि धन गया तो कुछ नहीं गया, यदि स्वास्थ्य गया तो कुछ गया, यदि सदाचार गया तो सब-कुछ गया।"

—एक अंगरेजी कहावत

(१) जनसंख्या

जनसंख्या या आबादी के विचार से भारतवर्ष एक महान राष्ट्र है। संसार भर में, केवल चीन छोड़ कर कोई दूसरा देश ऐसा नहीं है, जिसकी जनसंख्या भारत से अधिक हो। यह ठीक है इगलैंड आदि कुछ देशों की तुलना में क्षेत्रफल के विचार से यहाँ फी वर्गमील कम आदमी रहते हैं, पर वे देश स्वाधीन हैं और उद्योग और कलाकौशल प्रधान हैं। वे अपना तैयार माल अपने अधीन देशों या प्रभाव-क्षेत्रों में खपाकर खाने-पीने का सामान बहुत ऊँचे भाव से खरीद सकते हैं। यदि उनके यहाँ काफी पैदावार न हो तो भी उन्हें भूखे मरने की नौबत नहीं आती। इसके खिलाफ, भारतवर्ष आर्थिक पराधीनता में फँसा है। यहाँ के गरीब किसान अकसर अपनी उस पैदावार में से कुछ हिस्सा विदेशों के धनी व्यापारियों के हाथ बेच देने को मजबूर होते हैं, जिसकी उन्हें खुद अपने जीवन-निर्वाह के लिए जरूरत होती है।

यहाँ पैदावार बढ़ाने की ओर कुछ ध्यान दिया जा रहा है, तो भी भारतवर्ष की जनसंख्या कम नहीं कही जा सकती। सन् १६४१ ई० की मनुष्य गणना के अनुसार भारतवर्ष की जनसंख्या उनतालीस करोड़ है। यहाँ दूसरे कई देशों से मृत्यु-संख्या अधिक है, लेकिन जन्म संख्या उससे भी अधिक होने के कारण यहाँ हर वर्ष, प्रति हजार ग्यारह आदमी बढ़ रहे हैं। यदि यही क्रम जारी रहा तो सन् २००१ ई० में भारतीय जनसंख्या सत्तर करोड़ हो जाने की आशा है। क्या यह वृद्धि चिन्तनीय नहीं है?

इसके बारे मे श्री स्वामी रामतीर्थ जी के नीचे लिखे शब्द विचार करने योग्य हैं :—

"हे भारतवासियो! इतना तो तुम लोकसंख्या की अधिकता से गरीब हो रहे हो और आशा करते हो कि प्रेम और सहानुभूति की वृद्धि हो। तुम्हारी यह आशा वृथा है। पदार्थ-विद्या का अभ्यास करनेवाले जानते हैं कि पदार्थों की आन्तरिक स्थिरता तब ही तक रह सकती है, जब तक उसके परमाणु एक दूसरे से इतनी दूरी पर रहें कि छोटे परमाणु को भी अपनी नियमित परिक्रमा करने में बाधा उपस्थित न हो। अब यह विचारना चाहिए कि भारत के राष्ट्र की क्या दशा है। क्या उसके व्यक्ति बिना एक-दूसरे से टकराए अपनी नियमित चाल के अनुसार चल सकते हैं। क्या वे स्वतन्त्रता से अपनी नैसर्गिक गति को चला सकते हैं! जब एक का पेट भरने के लिए दस को भूखे मरना पड़ता है तब तो राष्ट्रीय स्थिरता कायम रखने के लिए हमें शीघ्र ही कोई उपाय करना चाहिए। यदि हमने ऐसा नहीं किया तो प्रकृति अपने नियमानुसार हमारे साथ व्यवहार करेगी। ऐसी अवस्था के लिए (जैसी हमारी है), प्रकृति के नियम महर्षि वशिष्ठ ने बताए हैं कि मरी, दुष्काल, नाशकारक युद्ध और भूकम्प हैं। किसी समय आर्य

उपनिवेशियों के लिए यह बड़े सौभाग्य की बात थी कि उनके अधिक सन्तान हों, परन्तु अब वह समय गया और स्थिति बदल गई लोकसंख्या की अधिकता का विचार करते हुए यह ज्ञात होता है कि आजकल बड़े कुटुम्ब का होना एक प्रकार का दुर्भाग्य है। जो विचार-शून्य मनुष्य कहते हैं कि मरणान्तर स्वर्ग-प्राप्ति पुत्र होने पर अवलम्बित है, उनसे कहो कि जरा अपनी आँखें खोलकर देखें; अपने मरने के पहले ही संतान-वृद्धि के कारण तुमने अपने घर को अर्थात् वर्तमान भारत को साक्षात् नर्क बना रखा है।"

दूसरे देशों की जनसंख्या जब जरूरत से ज्यादा बढ़ी तो उन्होंने अपनी पैदावार बढ़ाने और उद्योग धन्धों की उन्नति करने के अलावा दूसरे देशों में जाने और उपनिवेश बसाने का कार्य किया। भारतवर्ष के भी कुछ आदमी आजीविका के लिए दूसरे देशों को जाते रहे हैं, परन्तु अपने देश में ही परा-धीनता का जीवन व्यतीत करनेवालों को बाहर कब सम्मान मिला है; हमारे प्रवासी भाइयों का जिन कष्टों का सामना करना पड़ा है, उन्हें सुनकर बहुत से भाइयों का विदेशवास करने में साहसहीन हो जाना स्वाभाविक है! जो हो, जनसंख्या को बेहद न बढ़ने देने का दूसरा उपाय संयम और इन्द्रियों को वश में रखना है। वे महाशय धन्य हैं, जो जन्म भर ब्रह्मचारी रहें, देश को अपना परिवार समझें और उसी की सेवा में अपना तन, मन, धन लगावें। इस सम्बन्ध में हिन्दुओं के प्राचीन आदर्श के अनुसार आश्रम-धर्म के प्रचार की बड़ी जरूरत है। ब्रह्मचर्य आश्रम पूरा करने पर ही गृहस्थी बना जाय। बाल विवाह, वृद्ध विवाह और अनमेल विवाह न हों। सन्तान जहाँ तक हो सके, कम हो। उचित आयु के बाद

वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम के धर्म का पालन किया जाय। इससे जनसंख्या मर्यादा के भीतर रहेगी।

कुछ लोगों का कथन है कि संयम ब्रह्मचर्य आदि की बात बहुत अच्छी जरूर है, लेकिन यह केवल ऊँचे विचारवालों के वास्ते है, सर्वसाधारण के लिए यह अमल में लाने लायक नहीं है; उन्हें नकली उपायों से सन्तान निग्रह करना चाहिए। ये लोग जनता में इस प्रकार के विचारों का, अपने भाषणों तथा लेखों से, प्रचार कर रहे हैं। कुछ स्थानों में सन्तान-निग्रह की शिक्षा देने की भी व्यवस्था हो चली है। यह मत यहाँ थोड़े समय से ही जारी हुआ है, पर इस पक्षवालों की संख्या धीरे-धीरे बढ़ती जा रही है; खासकर नवशिक्षितों की प्रवृत्ति इस ओर बढ़ी हुई है। लेकिन जन-समाज इन बातों को भयंकर आशंका और घृणा की नज़र से देखता है। वह भारतवर्ष की प्राचीन संस्कृति, नैतिकता और धार्मिकता के विचार से इसका विरोध करता है। यह भी मालूम हुआ है कि उन देशों में जहाँ ये उपाय विशेष रूप से काम में लाए गए हैं, समाज को बहुत क्षति उठानी पड़ी है; यहाँ तक कि वहाँ कितने ही बड़े बड़े नेता इसका घोर विरोध कर रहे है। मतलब यह कि जनसंख्या की अनुचित वृद्धि को रोकने के लिए संयम और ब्रह्मचर्य को ही काम में लाया जाना चाहिए।

भारतवर्ष को स्वराज्य प्राप्त हो गया है, इससे जनता की आर्थिक हालत सुधर जायगी; क्या अब भी जनसंख्या को मर्यादा में रखने की जरूरत रहेगी? यह सोचना ठीक नहीं कि हम अपनी अंधाधुन्ध बढ़ाई हुई जनसंख्या का पालन करने के

लिए दूसरे देशों को अपना गुलाम या प्रभाव-क्षेत्र बनाएँगे, और दूसरी जातियों को इस प्रकार नुकसान पहुँचाएँगे, या उनका विनाश करेंगे, जैसा कि इस ज़माने के उन्नत राष्ट्रों ने किया है, और कर रहे हैं। नए-नए आविष्कारों द्वारा देश की पैदावार बढ़ाने की कोशिश करते रहना उचित ही है, परन्तु अपना राष्ट्र-परिवार इतना बढ़ा लेना कि अन्त में उसकी रक्षा या पालन-पोषण के लिए दूसरों को नष्ट करना पड़े, बहुत बुरा है।

वर्तमान हालत में जरूरत इस बात की है कि भारतवासी मातृभूमि के योग्य नागरिक बनें। ऐसी कोशिश होनी चाहिए कि समाज का प्रत्येक अंग राष्ट्र के लिए अधिक-से-अधिक उपयोगी हो। जिस प्रकार घर के कार्य में छोटा-बड़ा, स्त्री पुरुष, बालक वृद्ध सब अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार योग दे सकते हैं, उसी तरह राष्ट्र में भी हर व्यक्ति-समूह को अपना कर्त्तव्य भली-भाँति पालन करना, चाहिए। जैसा कि हमने 'भारतीय जागृति' में कहा है, हरेक विचारशील आदमी को यह बात अजीब और दुखदायी मालूम होगी कि जनसंख्या के इतने बड़े होते हुए भी भारतवर्ष संसार में बहुत गया-बीता है। बात यह है कि भारतीय जनता की विविध कड़ियों में से कई-एक बहुत कमज़ोर हैं:—(१) अब से कुछ वर्ष पहले तक महिलाएँ सार्वजनिक जीवन से दूर ही नहीं रहीं, वे बहुत-कुछ पुरुषों पर भार या उनके कार्य में बाधक थीं (२) अछूतों (हरिजनों) की समस्या पर हाल में ही विचार होने लगा है। (३) भिखारियों (४) जरायम-पेशा (अपराधी) कहे जानेवाले लोगों, (५) आदि-वासियों तथा (६) वेश्याओं के विषय पर अभी तक भी विशेष

ध्यान नहीं दिया गया है। राष्ट्र के इन सब अंगों की उन्नति और सुधार होना आवश्यक है।

(२) स्वास्थ्य-रक्षा

भारतवर्ष की राष्ट्रीय शक्ति बढ़ाने के लिए दूसरी बातों में स्वास्थ्य और सदाचार की खास जरूरत है। पहले स्वास्थ्य-रक्षा का विचार करते हैं।

शान्ति हो या युद्ध, तन्दुरुस्त आदमी ही समाज का बल और राष्ट्र की शक्ति हैं। इसलिए स्वास्थ्य की ओर काफी ध्यान देना चाहिए। भारतवासियों के लिए यह धर्म के ही अन्दर एक जरूरी विषय है, और वे शुद्ध और अनुकूल भोजन-वस्त्र, स्वच्छ वायु तथा व्यायाम का महत्व भली भाँति जानते हैं। तिस पर भी उन्हें जैसा-चाहिए, सुख नहीं मिलता। इसका कारण यह है कि कुछ लोग तो शौकीनी या फैशन के कारण, परन्तु बहुत से अपनी दरिद्रता के वश, उस जानकारी का उपयोग नहीं कर सकते। जिन अभागे भारतवासियों को दो वक्त पेट-भर रोटी ही नहीं मिलती, उन बेचारों को यह जान लेने से कुछ खास लाभ नहीं होता कि स्वास्थ्य के लिए खुली हवा के बंगलों में रहना चाहिए। भारतीय जनता के स्वास्थ्य का प्रश्न बहुत-कुछ आर्थिक है। अतः स्वास्थ्य-सुधार के लिए लोगों की आर्थिक दशा सुधारने की सख्त ज़रूरत है।

कुछ और बातों की तरफ भी ध्यान दिया जाना उचित है। मिसाल के तौर पर स्कूलों में विद्यार्थियों के स्वास्थ्य सुधार के प्रश्न पर भली प्रकार विचार होना चाहिए। मौजूदा हालत ने

जनता के दिल में यह विश्वास जमा दिया है कि पढ़नेवाले आदमी रोगों के प्यारे बन जाते हैं। वे महाशय बड़े ही सौभाग्य-शाली समझे जाते हैं, जो विद्वान् होकर भी बलवान और स्वस्थ बने रहें। नहीं तो, चश्माधारी बनना अब फैशन में शामिल हो गया है। अनेक नौजवान विद्यार्थी डाक्टरों और वैद्यों के 'शुभ-चिंतक मित्र' बने रहते हैं। यह हालत बड़ी शोचनीय है। इसके मुख्य कारण ये हैं—उचित भोजन न मिलना, मानसिक परिश्रम या दिमागी मेहनत ज्यादा करना, कसरत या व्यायाम में मन न लगना, सत्संगति और नैतिक शिक्षा की कमी, ब्रह्मचर्य व्रत का पालन न करना, छोटी उमर की विवाह-शादियाँ और गृहस्थी की चिन्ता भार आदि। इन्हें दूर करने के लिए पिछले सालों में कुछ कोशिश हुई है; लेकिन और भी बहुत काम होने की आवश्यकता है।

इसी प्रकार दूसरे स्त्री-पुरुषों के स्वास्थ्य पर विचार हो सकता है। हमें चाहिए कि इस विषय में अपना फर्ज़ पूरा करके राष्ट्र का बल बढ़ावें। अब सदाचार के सम्बन्ध में विचार किया जाता है।

(३) सदाचार

सदाचार में विविध नैतिक गुण शामिल होते हैं, जैसे सच बोलना, संयम, उदारता और ईमानदारी आदि। जो आदमी सदाचारी नहीं होता, वह अकसर अपनी योग्यता का दुरुपयोग ही करता है। वह अपनी विद्या को विवाद का, धन को अहंकार का, शारीरिक बल को दूसरों के सताने का साधन बना सकता है, जबकि सदाचारी आदमी इन गुणों से ज्ञान, दान और

रक्षा का काम लेकर देश और जाति की सुख-शान्ति बढ़ाता है। सदाचार ही मनुष्यों या समाजों को उन्नति और सम्मान की उच्च शिखर पर पहुँचाता है।

इतिहास इस बात का गवाह है कि जब राज्य की बागडोर आचारहीन या दुराचारी आदमियों के हाथ में आ जाती है तो देश का पतन आरम्भ हो जाता है। भारत को जर्जर और वैभवहीन कर डालनेवाला महाभारत क्यों हुआ? दुर्योधन या दुश्शासन जैसे चरित्रहीन आदमियों के सत्ताधारी हो जाने से। मुसलमानों के सामने हिन्दुओं की अन्त में पराजय क्यों हुइ? एक ओर तो वीर पृथ्वीराज ने ऐश्वर्य और भोग-विलास में पड़कर अपने राष्ट्रीय कर्त्तव्य की ओर काफी ध्यान न दिया, दूसरी ओर उसके ससुर जयचन्द की ईर्ष्या ऐसी प्रचण्ड हो गई कि उसने अपने देश-प्रेम को भी भस्म कर डाला। छल, कपट, देशद्रोह और विलासिता का परिणाम और क्या होना था! भारतवर्ष में हिन्दू सम्राट् के शासन की इतिश्री हो गई। इसके खिलाफ, हिन्दू जाति में राणा प्रताप, छत्रपति शिवाजी और गुरु गोविन्दसिंह आदि का नाम जीवन संचार करनेवाला कैसे हुआ? उनके अपार कष्ट-सहन और कठोर व्रतों के पालन के कारण। धन्य! भारत माता!! तू ने अपनी मुसीबत और अन्धकार-काल में भी ऐसे पुरुष-रत्नों को जन्म दिया!

अच्छा, यहाँ मुसलमानों के राज्य का अन्त क्यों हुआ? ऐयाशी और विलासिता के कारण। आखिरी मुगल शासकों ने अपने पूर्वजों के घोर परिश्रम का फल शराब की बोतलों में नष्ट कर डाला। इनकी देखादेखी इनके सहायक और अधीन

पदाधिकारी भी खुशामदी, कायर और आरामतलब हो गए। स्वतन्त्रता देवी यह अपमान कब तक सहन करती ! उसने धीरे-धीरे सारे भारत से बिदा ली। कष्ट सहनेवाले स्वदेशभक्त अंगरेजों की बन आई; जो आदमी यहाँ व्यापार के लिए आए थे, उन्होंने अवसर पाकर देश पर ही कब्जा कर लिया।

अस्तु, इस सिलसिले में थोड़ा सा यह भी विचार करलें कि अब अंगरेज बहादुरों की हुकूमत की नींव क्यों डाँवाडोल हुई। महारानी विक्टोरिया की घोषणा को 'राजनीतिक छल' समझने और उसे रद्दी कागज का टुकड़ा बना डालने से, अनेक लोभी लालची कर्मचारियों के अनुचित व्यवहार से, महायुद्ध के समय प्रजा को बड़े-बड़े बचन देने और मतलब निकल जाने पर उनका पालन न करने से, अनेक स्थानों में स्त्रियों, बालकों और बूढ़ों पर भी घोर अत्याचार करने से, माशल ला (अशांति-दमन कानून) और आर्डिनेन्स (फरमान) राज्य तथा तानशाही शासन से।

और हाँ, इस समय भारतवर्ष पर आर्थिक संकट क्यों है ? इसके कुछ कारण तो विश्वव्यापी हैं, उनकी बात छोड़ दीजिए। यहाँ बहुत-कुछ संकट स्वयं यहाँ वालों में सदाचार के अभाव के कारण है। रेल, पुलिस, अदालत आदि विविध विभागों के सरकारी कर्मचारी अपने वेतन और भत्तों से संतुष्ट न हो हरदम रिश्वतखोरी के लिए लालायित रहते हैं। मामूली आदमी को अनाज या कपड़े आदि के कंट्रोल के दफ़्तर में जब कोई काम होता है तो अफसरों को खुश करने में अपना पैसा लुटाने के लिए तैयार रहना पड़ता है। भ्रष्टाचार की अधिकता से

सरकार काफी बदनाम है। पर कर्मचारियों को तो 'ऊपर की आमदनी' से अपने जेब भरने की फिक्र रहती है।

जैसा राजा, वैसी प्रजा। सरकारी कर्मचारियों का यह पतन है, तो नागरिकों का भी नैतिक स्तर बहुत गिरा हुआ है। कपड़े का दुकानदार पाँच रुपए की साड़ी के चोर-बाजार में चौदह-पन्द्रह रुपए तक लेने में भी ज़रा नहीं शर्माता। आदमी अपनी बहू-बेटियों की लज्जा का निवारण के लिए उसके मुँह-माँगे दाम देने को मजबूर होते हैं और इस मजबूरी का दुकानदार अधिक-से-अधिक लाभ उठाता है। अनाज, चावल, चीनी आदि में मुनाफेखोरी कितनी अधिक है, यह सब भुक्तभोगी जानते हैं! कितने ही मुनाफेखोर पूंजीपति मंत्रियों का स्वागत करके तथा राष्ट्रीय कार्यों में चंदा देकर सरकार की आंखों में धूल डालते रहते हैं। इनसे सावधान रहने की बहुत जरूरत है।

हम में राष्ट्रीय चरित्र की कितनी कमी है! हम किसी को दिए हुए वचन को पूरा करना या किसी से माँग कर लाई हुई चीज़ समय पर लौटाना जानते ही नहीं। अनेक सार्वजनिक पुस्तकालय हमारे विद्यार्थियों तथा शिक्षितों की चरित्रहीनता के जीते-जागते सबूत हैं। कितनी ही पुस्तकों और पत्रिकाओं के कई-कई पृष्ठ फटे हुए हैं; कुछ में से चित्र या नकशे गायब हैं। साल दो साल में जब सारे पुस्तकालय का स्टाक संभाला जाता है, तो गुमी हुई पुस्तकों आदि की सूची काफी लम्बी हो जाती है। यह सब इसलिए कि कुछ पाठक अपने स्वार्थ के लिए सार्वजनिक संस्था को हानि पहुँचाना और अपने अनेक भाइयों का अहित करना बुरा नहीं समझते।

अब हम स्वतन्त्र भारत के माननीय नागरिक हैं; इस समय भारतवर्ष राष्ट्रीय समस्याओं के हल करने में लगा है। इस लिए भारतीय समाज में सदाचार की खास जरूरत है। हम ऐसी हिम्मत वाले हों कि मौत से भी न डरें; ऐसे धर्मात्मा हों कि ऊँचे सिद्धान्तों के पालन करने के सामने किसी भी दूसरी बात को महत्व न दें; ऐसे संयमी हों कि दुनिया के भोग विलास हमारा पतन न कर सकें; ऐसे निर्लोभी हों कि कोई हमें किसी भी कीमत से न खरीद सकें। हमारा भोजन सात्विक हो, रहन-सहन साधारण हो, हमारे विचारों में पवित्रता हो। ईर्ष्या-द्वेष, और फूट से हम अपने समाज को खंड-खंड न करके दया, मेल और परोपकार से उसे बढ़ानेवाले हों। फिर, हम अपनी राष्ट्रीय समस्याओं को सहज ही अच्छी तरह हल कर सकेंगे।

पाँचवाँ परिच्छेद

सगठन



जिनको हम पैरों तले गिरा कर अपमानित करते हैं, वे ही हमारे रास्ते में हमारे सामने बाधा-रूप में खड़े हो जाते हैं; वे भारी होकर हमको नीचे की ओर खींचते हैं। —रविन्द्रनाथ ठाकुर

हिन्दू किसान और मुसलमान किसान, हिन्दू मज़दूर और मुसलमान मज़दूर, हिन्दू बेकार और मुसलमान बेकार के स्वार्थों में कोई भेद नहीं है। —शुकदेवराय

संगठन का आधार; मेहनत मज़दूरी—जिस राष्ट्रीय संगठन का हम सपना देखते हैं, नहीं-नहीं, जिसकी लहर कट्टर-पन्थियों का विरोध होते हुए भी, बड़े वेग से आ रही है, उसमें किसी के अधिकार सिर्फ जन्म या खानदान के कारण न माने जाएँगे। उसमें जाति या सम्प्रदाय आदि का भेद-भाव न होगा, ऊँच-नीच की भावना न होगी, अस्पृश्यता या अछूतपन जैसी सामाजिक कलंक की बात न रहेगी। मौजूदा हालत में बहुत-से आदमी सभा समितियाँ संगठित करके उनके द्वारा अपनी-अपनी जाति या सम्प्रदाय की उन्नति की कोशिश करते हैं; वे उसके लिए विशेष राजनीतिक अधिकारों या सुविधाओं की माँग करते हैं। परन्तु इसमें कोई सार नहीं है। किसानों, मजदूरों तथा बेकारों के स्वार्थ समान हैं, वे लोग किसी भी जाति या सम्प्रदाय के हों। एक प्रान्त के किसी भाग में सिंचाई का इन्तजाम ठीक नहीं है, या लगान की दर बहुत ऊँची है, तो उससे वहाँ के सभी किसानों की हानि होगी, चाहे वे किसान जाट हों या गूजर, हिन्दू हों या मुसलमान। यदि किसी जगह कारखाना-कानून (फेक्टरी एक्ट) ठीक नहीं है तो उससे सभी मजदूरों के हित में बाधा होगी; यह नहीं होगा कि केवल किसी खास जाति या सम्प्रदाय के मजदूरों को हानि हो। जाहिर है कि लोगों के संगठन का आधार जाति या सम्प्रदाय न होकर, पेशा और स्थान होना चाहिए।

राष्ट्र में श्रम या मेहनत का उचित आदर होना चाहिए, वह श्रम शारीरिक हो या मानसिक। जो आदमी राष्ट्र के लिए जितनी अधिक कड़ी मेहनत करता है, उसे उतनी ही अधिक

आमदनी होनी चाहिए; अगर वह स्वयंसेवक है तो उसे उतना ही अधिक आदर मान मिलना चाहिए। इसी तरह जो आदमी या समूह, समाज के लिए, कुछ उपयोगी कार्य नहीं करते, उन्हें समाज की ओर से आदर पाने का कोई अधिकार नहीं है। देश के किसी आदमी को दूसरों पर भार न होना चाहिए, सब को स्वावलम्बी जीवन व्यतीत करना चाहिए।

सङ्गठन का आधार श्रम मानने और श्रमजीवियों को ही समाज में सुख और आदर-मान देने की बात उन जमींदारों, साहूकारों, पूँजीपतियों और कारखानेवालों को बहुत अखरेगी, जो बिना खास मेहनत किए ही दूसरों के श्रम के सहारे खूब सुख या विलासिता भोगते रहते हैं, जो धन की पदावार के साधनों में से भूमि और पूँजी के मालिक बने बैठे हैं, और जिन्हें कुछ खास राजनीतिक अधिकार भी मिले हुए हैं। उन्हें समाजवाद की भावना में अपनी साफ हानि दीखती है; यही नहीं, अपने विनाश की आशंका होती है। इसलिए वे इसका भरसक विरोध करते हैं, और उनके विरोध को देखकर साधारण मनुष्य यह कहने लगते हैं कि समाजवाद की बात उठाकर श्रेणी-युद्ध की भावना क्यों जगाई जाय, इससे राष्ट्र के सङ्गठन में भयङ्कर बाधा खड़ी होती है। इस सम्बन्ध में याद रहे कि राष्ट्र का असली और स्थायी सङ्गठन उस समय तक नहीं हो सकता, जब तक कि एक श्रेणी दूसरी से अनुचित लाभ उठाएगी, और उसका शोषण करती रहेगी। बलवानों और निर्बलों का एक संगठन नहीं हो सकता। अच्छे संगठन के लिए समता चाहिए; सब श्रेणी-भेदों का अन्त होकर सब आदमियों

को अपनी उन्नति और विकास का समान अवसर मिलना चाहिए, किसी को दूसरों पर जबरदस्ती करने का अधिकार न होना चाहिए।

समाज-सुधार की जरूरत—सङ्गठन अच्छा होने के लिए यह जरूरी है कि समाज-सुधार के कार्य की ओर खूब ध्यान दिया जाय। इस समय हरेक समाज में बहुत सी कुरीतियाँ घुसी हुई हैं; मिसाल के तौर पर बाल-विवाह या बेमेल विवाह, अस्पृश्यता,* फजूलखर्ची, अनुचित दान-धर्म और पर्दा आदि। इन्हें निवारण करने के लिए विविध संस्थाएँ उद्योग कर रही हैं, और पिछले दिनों में सुधार की गति भी खासी अच्छी रही है, तो भी अभी बहुत काम होना बाकी है। हरेक समाज के विचारवान आदमियों को चाहिए कि इन कुरीतियों को दूर करने के लिए जोरदार और सङ्गठित प्रयत्न करने में एक-दूसरे की मदद करें।

दान-धर्म—हमारे यहाँ बहुत से आदमी समाज के भक्ति-भाव, अन्ध-श्रद्धा, और अज्ञान से अनुचित लाभ उठा कर परावलम्बी जीवन बिताते हैं। बहुत से गाँव या नगरों में खास-कर तीर्थों में पंडे, पुजारी, महन्त, साधु, फकीर आदि दूसरों की गाढ़ी कमाई पर मौज उड़ाते हैं, विलासिता का जीवन बिताते हैं। जनसाधारण को इन लोगों से बेढब सहानुभूति है। दिन-रात मेहनत मजदूरी करनेवाले आदमी समाज में नीची श्रेणी के समझे जाते हैं, परन्तु 'धार्मिक' बननेवाले साधुओं आदि को जहाँ तक बन आवे भोजन-वस्त्र तथा पैसा दान

* इन्हें रोकने के विषय में कानून बन रहे हैं।

करके उनका आदर-सत्कार करना भारतीय गृहस्थ अपना कर्त्तव्य ही समझते हैं।

हम दान देने के काम की बुराई नहीं करते, परन्तु दान वही ठीक है, जो सुपात्रों को मिले, जिससे राष्ट्र के स्वयंसेवकों की परवरिश हो; देश में उपयोगी शिक्षा, साहित्य, कला-कौशल और उद्योग-धन्धों की वृद्धि हो। हमारे भाइयों की मौजूदा दान-प्रणाली से तो अकसर मुफ्तखोरों की संख्या बढ़ती है; लाखों आदमी हाथ पर हाथ धरे बैठे रहते हैं और बेकारी का जीवन बिताते हुए दूसरों पर भार-स्वरूप होते हैं। इसमें सुधार होने की बहुत जरूरत है।

जाति-भेद और अस्पृश्यता—राष्ट्रीयता चाहती है कि समाज में हर आदमी को उसके गुण-कर्मों के अनुसार स्थान मिले; केवल किसी जाति विशेष में जन्म लेने के आधार पर किसी आदमी या समूह को ऊँचा नहीं माना जाना चाहिए। इस समय यहाँ अनेक आदमी अशिक्षित, गन्दे और परावलम्बी रहते हुए भी जाति विशेष में जन्म लेने के कारण ऊँचे दर्जे के माने जाते हैं। इसके खिलाफ, जो रात-दिन मेहनत करके अपना निर्वाह करते हैं, तथा 'उच्च' कहे जानेवालों के सुख भोगने में मदद करते हैं, वे 'नीच' और कुछ दशाओं में अस्पृश्य या अछूत समझे जाते हैं। उन्हें उनके नागरिक अधिकार नहीं दिए जाते, और असमर्थ, निर्बल तथा असहाय रहने दिया जाता है।

किसी जंजीर की मजबूती की परीक्षा उसकी सबसे कम-जोर कड़ी से हुआ करती है। जहाँ तक उस कड़ी की ताकत होती है, वहीं तक कुल जंजीर की सामर्थ्य समझी जायगी।

राष्ट्र-सङ्गठन में किसी खास अंग की ओर उदासीनता रखते हुए कभी सफलता नहीं मिल सकती। इसलिए, कमजोरों पर दया करने के विचार से न सही, स्वार्थ-बुद्धि से ही हमें अछूतों या हरिजनों के सवाल को हल करना पड़ेगा, और उन्हें योग्य अधिकार देने पड़ेंगे। खुशी की बात है कि राष्ट्रीय आन्दोलन में अब इस विषय की ओर अधिक ध्यान दिया जा रहा है और कानून के द्वारा उनकी सामाजिक असुविधाएँ दूर की जा रही हैं। देश-प्रेमियों से नम्र निवेदन है कि दलित भाइयों के उद्धार में भरसक हिस्सा लें। वे मैले हैं तो उन्हें सफाई की शिक्षा दें, यदि वे बे-पढ़े हैं तो उन्हें ज्ञान दें, यदि वे भूखे हैं तो उनकी आजीविका का इन्तजाम करें। यह हमारा ही तो दोष है कि वे हिन्दू और हिन्दुस्तानी कहलाते हुए भी गिरी हालत में रहें।

प्यारे भाइयो! सुधार की बात सुनकर बिगड़ बैठना ठीक नहीं; ज़रा शान्ति और गम्भीरता से विचार करने की ज़रूरत है। यह बहुत अनुचित है कि हम अपने इन पाँच-छः करोड़ भाइयों की उपेक्षा करें। हम देखते हैं कि हबशियों में से कितने ही योग्य नेता और पथ-प्रदर्शक या रहनुमा निकल आए; क्या इतने शूद्रों' में कुछ नर-रत्न न निकल आएँगे? ज़रूर निकलेंगे, लेकिन उन्हें अपनी शक्ति और गुणों के विकास करने का अवसर भी तो मिले।

संस्थाओं का कार्यक्रम—पहले कहा जा चुका है कि संगठन का आधार जन्म जाति या सम्प्रदाय न होकर, स्थान और पेशा होना चाहिए। इस प्रकार देश में किसानों, मज़दूरों,

लेखकों, डाक्टरों, वैद्यों आदि का संगठन होना उचित है। आगे हम दो-एक प्रकार के संगठनों की विशेष चर्चा करते हैं, उससे यह साफ हो जायगा कि देश की दूसरी सभा-समितियों को अपना कार्य-क्रम कैसा रखना चाहिए और उनके वास्ते कैसी कैसी बातों का विचार रखना जरूरी है।

किसानों और मज़दूरों का संगठन—भारतवर्ष की जनता ज्यादातर किसानों की है। जैसा कि हमने 'भारतीय जागृति' में कहा है, गाँव-गाँव में किसानों की एक सभा या संघ स्थापित होकर उसे उस गाँव की परिस्थिति के अनुसार वहाँ के किसानों के हित-साधन में लगना चाहिए; और जहाँ तक बन आवे, दूसरे गाँव की इस तरह की संस्थाओं से सहयोग करना चाहिए। इसका उद्देश्य किसानों के उचित अधिकारों की रक्षा करना और उनकी उन्नति करना, होना चाहिए। पिछले वर्षों में किसान-सभाएँ बहुत बढ़ी हैं तो भी इनके अभी और भी बढ़ने और संगठित होने की आवश्यकता है।

मजदूरों का ऐसा संगठन होना उचित ही है, जो मजदूरी की दर, समय और मजदूरों की दूसरी सुविधाओं के लिए उचित इन्तजाम करें। ऐसे सङ्गठन से हरेक राष्ट्र-हितैषी की सहानुभूति होगी। परन्तु यह भी तो जरूरी है कि मजदूर देश के हित का पूरा ध्यान रखें और अधिक से अधिक उत्पादन कर उसकी शक्ति को बढ़ाते रहें, अब देश स्वाधीन हो गया है, मज़दूरों को हड़ताल आदि से उसे हानि न पहुँचानी चाहिए।

महिलाओं का संगठन—स्त्रियों की उन्नति के लिए उनका

भी सङ्गठित होना जरूरी है। हाँ, उनके किसी सङ्गठन का आधार जातिगत या साम्प्रदायिक न होना चाहिए। महिलाओं की समस्याएँ सभी जातियों में करीब-करीब एकसी हैं, और उन्हें हल करने के लिए सब को मिलकर कोशिश करनी चाहिए। लड़कियों को अच्छी गृहणी (घर वाली) बनने की बड़ी जरूरत है। उनकी शिक्षा में उन विषयों की व्यावहारिक शिक्षा भी शामिल रहनी चाहिए, जिनसे उन्हें दिन-रात काम पड़नेवाला है, यथा गृह-प्रबन्ध, आरोग्यता, रोगियों की सेवा, चिकित्सा, पाक-शास्त्र (रसोई), धातृ-विद्या या धाय का काम, पढ़ाना, और सन्तान का पालन-पोषण आदि। ऐसी शिक्षा का इन्तजाम हो जाने से, यह लाभ भी होगा कि अनाथ या असहाय हो जाने की दशा में, स्त्रियाँ दूसरों के आश्रित न रह कर खुद अपना निर्वाह करने योग्य होंगी। इसके अलावा जिन महिलाओं के मन में लोक-सेवा के भाव जागृत हो गए हैं, वे अपनी उस अभिलाषा को पूर्ण कर सकेंगी।⁕

अन्य देशों के साहित्य में वहाँ की महिलाओं का बड़ा हिस्सा है। कोशिश करने पर भारतीय स्त्रियाँ भी अपनी विदेशी बहिनों की सी योग्यता प्राप्त कर सकती हैं। उनमें स्वभाव से ही मनुष्यों की मानसिक स्थिति तथा रुचि पहिचानने की शक्ति है, और वे अपनी बुद्धि, कौशल और चतुराई के कारण अनेक नीरस विषयों को मीठा और सरस बना सकती हैं। एक

⁕ माता कस्तूर बा की याद में एक बड़ा कोष कायम किया गया है। इस कोष से स्थान-स्थान पर स्त्रियों की शिक्षा और उन्नति का इन्तजाम किया जा रहा है।

साहित्य ही क्या, स्त्रियाँ कइ तरह से देश-सेवा कर सकती हैं। ऐसे कार्य तो खासकर स्त्री समाज के ही करने योग्य मालूम होते हैं, जिनमें कोमलता मधुरता आदि गुणों की जरूरत हो; मिसाल के तौर पर बीमारों की सेवा-सुश्रूषा करना, दुखियों को दिलासा देना आदि। स्त्रियों के सङ्गठन का उद्देश्य उनमें इन गुणों को बढ़ाना, होना चाहिए।

नवयुवकों का संगठन—इसी प्रकार नवयुवकों का संगठन भी जातिगत या साम्प्रदायिक न होकर कुछ विशेष गुणों की वृद्धि के लिए, और राष्ट्रीयता के आधार पर, होना चाहिए। मिस्र, टर्की और जापान आदि देशों ने पिछले वर्षों में जो उन्नति की है वह बहुत-कुछ उनके नवयुवकों द्वारा हुई है। भारत-वर्ष की भी स्थायी उन्नति होने की आशा तभी पूरी होगी, जब उसे जारी रखने के लिए देश के भावी नेता अर्थात् नवयुवक तैयार हों। देश-सेवा का कार्य ऐसा व्यापक है कि हर आदमी या समूह को उसमें अपनी रुचि या सामर्थ्य के अनुसार कुछ-न-कुछ हिस्सा लेने का अवसर मिल सकता है। युवकों को चाहिए कि बालचर (स्काउट्स) या सेवा-समितियों के सदस्य बनकर सेवा-कार्य की शिक्षा प्राप्त करें, और अपना उद्देश्य ऊँचा रखें।

विशेष वक्तव्य—इसी तरह दूसरे समूहों को भारतीय राष्ट्र की सेवा करने के लिए ही अपना-अपना सङ्गठन करना चाहिए। इसमें साम्प्रदायिकता का भाव न हो। प्रत्येक सङ्गठन के नियम अच्छी तरह बने हों; वे हर जाति या सम्प्रदाय के

लिए समान हों। जिन सभा संस्थाओं का काम भाषणों या लेखों द्वारा जातिगत या साम्प्रदायिक ओछे विचारों का प्रचार करना तथा आपसी कलह बढ़ाना होता है, वे सङ्गठन नहीं, सङ्गठन के नाम पर कलंक हैं। सङ्गठन वही है जो सत्य और न्याय के आधार पर हो, जिसका मूल मंत्र प्रेम और सेवा हो, जो हमें अपने दूसरे भाइयों की सेवा और सहायता के लिए अधिक-से-अधिक उपयोगी बनाए।

छठा परिच्छेद

साम्प्रदायिकता

मज़हब नहीं सिखाता, आपस में बैर रखना।
हिन्दी हैं हम, वतन है हिन्दुस्ताँ हमारा॥

—'इकबाल'

किसी देश में अलग-अलग सम्प्रदायों का होना बुरा नहीं, लेकिन सामाजिक जीवन में कदम-कदम पर अपनी साम्प्रदायिकता का बेसुरा राग अलापना, राष्ट्रीयता भंग करना और राजनीतिक प्रगति को रोकना बहुत हानिकारक है। भारतवर्ष में कई धर्मों के आदमी रहते हैं, और अलग-अलग सम्प्रदायों के कारण, साम्प्रदायिक समस्या ने बड़ा जटिल स्वरूप धारण कर रखा है।

साम्प्रदायिकता का मूल; अज्ञान या स्वार्थ—वास्तव

में 'साम्प्रदायिक' कही जानेवाली समस्याओं में कोई सार नहीं, इनका कारण लोगों का अज्ञान या स्वार्थ है। जब लोगों के ध्यान में यह बात अच्छी तरह आजायगी कि एक देश या राष्ट्र में रहनेवालों के स्वार्थ और हित मिले हुए होते हैं तो साम्प्रदायिकता का लोप हो जायगा। कौन नहीं जानता कि देश में अकाल, बाढ़, महामारी या महँगी का धावा ब्राह्मण-अब्राह्मण अथवा हिन्दुओं और मुसलमानों के भेद को नहीं देखता। पूँजीवाद और सामन्तवाद हम सब का ही शोषण कर रहे हैं। शिक्षा, स्वास्थ्य और आजीविका की हम सब को समान चिन्ता है।

साम्प्रदायिक नेता इन बातों को भुला कर समय बे-समय अलहदगी की बातें किया करते हैं। उनका उद्देश्य यह रहता है कि उन्हें अपने-अपने सम्प्रदायवालों से जाति-हितैषिता या धर्म-प्रेम की सनद मिले, सम्प्रदायवाले उनको सरकारी नौकरी, कौंसिलों की मेम्बरी अथवा कोई सामाजिक मान-प्रतिष्ठा दिलाने में मदद करें। नहीं तो यह साफ जाहिर है कि इस युग की खास समस्या रोटी-कपड़े की है। जहाँ रुपए पैसे का मामला आया, चोटी और दाढ़ी का भेद नहीं रहता; पंडित और मौलवी सब एक हो जाते हैं। सूद की दर घटाने या लगान कम करने का विरोध सब साहूकार और जमींदार करते हैं, चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान, सिक्ख हों या ईसाई आदि।

हिन्दुओं में साम्प्रदायिकता—भारतवर्ष में साम्प्रदायिकता ज्यादातर मुसलमानों में है, पर हिन्दू भी इस रोग से बरी होने का अभिमान नहीं कर सकते। यह ठीक है कि जब हिन्दू-

मुसलमान आदि कोई हिन्दुओं और अ-हिन्दुओं का प्रश्न उपस्थित होता है तो हिन्दू अकसर अपनी फूट के भावों को दबा लेते हैं, पर जहाँ हिन्दू-हिन्दू का ही मामला होता है तो उनमें भी राष्ट्रीयता की कमी छिपाए नहीं छिपती। हमारी म्युनिसपेलटियों, जिला-बोर्डों और कौंसिलों में कहीं वैश्य और क्षत्री की बात आती है, कहीं ब्राह्मण और कायस्थ आदि की। निर्वाचन या चुनाव के समय हमारी कड़ी परीक्षा होती है। ऐसे उम्मेदवार या उनके एजन्ट बहुत कम होते हैं, जिन्हें अपने निजी स्वार्थ के लिए जातिगत या साम्प्रदायिक भावों के उभारने में कुछ संकोच न होता हो। उस समय एकता का बाना उतार कर फेंक दिया जाता है. और मतदाताओं से सम्प्रदाय, जाति या बिरादरी के नाम पर अपील की जाती है। इससे भोलीभाली जनता सहज ही बहक जाती है। प्रजातन्त्री शासन की स्थापना और संचालन के लिए आवश्यक है कि आदमी अपने आपको ओछे, निजी स्वार्थ वाले, साम्प्रदायिक भावों से बचाए रखें, और सार्वजनिक विषयों पर राष्ट्रीय दृष्टिकोण से विचार करें।

हिन्दू-मुसलिम सवाल; पाकिस्तान बनने के बाद— १५ अगस्त १९४७ से भारतवर्ष के पूर्वी और पश्चिमी प्रदेशों का, जहाँ मुसलमानों की आबादी अधिक थी, एक अलग पाकिस्तान राज्य बन गया है; इसके बारे में खुलासा आगे लिखा जायगा। पाकिस्तान का आन्दोलन करनेवाले मुसलिम नेताओं का कहना था कि पाकिस्तान राज्य बन जाने से हिन्दू-मुसलिम सवाल स्थायी रूप से हल हो जायगा। १५ अगस्त १९४७ से

कुछ पहले तथा इसके बाद कुछ महीनों तक बड़ी-बड़ी संख्या में पाकिस्तान के हिन्दू शरणार्थी भारतीय सङ्घ में आये, तथा मुसलमान पाकिस्तान गए; उससे एक बार ऐसा आभास हुआ कि पाकिस्तान हिन्दुओं से करीब-करीब खाली हो जायगा, और भारत के अधिकांश मुसलमान पाकिस्तान चले जायँगे। इस प्रकार हिन्दू-मुसलिम सवाल का अन्त हो जायगा।

परन्तु यह केवल कल्पना ही थी। दो करोड़ हिन्दुओं के लिए पाकिस्तान छोड़कर भारतीय सङ्घ में आ बसना कैसे सम्भव है! और, भारतीय संघ के लगभग पाँच करोड़ मुसलमानों के लिए पाकिस्तान में कहाँ गुञ्जायश है! यद्यपि दोनों राज्यों के कुल मिला कर लगभग अस्सी लाख आदमियों का एक राज्य से दूसरे राज्य में चला जाना कोई मामूली बात नहीं है, इससे मूल समस्या में विशेष अन्तर नहीं आता। इसी प्रकार यद्यपि पाकिस्तान बन जाने के बाद भारतीय सङ्घ में रहनेवाले मुसलमानों में इस राज्य के प्रति वफादार रहने की भावना धीरे-धीरे बढ़ी है, और उनमें अब पहले जैसे कट्टरता नहीं रही, तथापि हिन्दू-मुसलिम समस्या कुछ-न कुछ परिमाण में तो बनी ही है। इसलिए इस पर कुछ विचार करना जरूरी है।

हिन्दुओं और मुसलमानों का आपसी सम्बन्ध—भारतवर्ष में हिन्दू और मुसलमान एक हजार वर्ष से साथ-साथ रहते आए हैं। कुछ थोड़ी-सी बातों को छोड़कर इनका आपसी सम्बन्ध बहुत प्रेम का रहा है। असल में अँगरेजों के आने से पहले यहाँ हिन्दू-मुसलिम समस्या आजकल की सी कभी नहीं

रही; अपने मौजूदा रूप में यह समस्या ब्रिटिश सरकार की ही देन है। उसने इस देश में अपनी बुनियाद मजबूत बनाने के लिए जनता को उकसाया और भड़काया। पृथक् निर्वाचन, विशेष प्रतिनिधित्व, और साम्प्रदायिक निर्णय का रहस्य इसी बात में है। ॐ असल में मुसलमान हिन्दुओं से इतनी दूर नहीं है, जितना समझा जाता है। वे ज्यादातर इसी देश के हैं, यहाँ की ही नस्ल और मिट्टी से उनकी पैदायश हुई, यहाँ के अन्न-पानी और हवा से उनका पालन-पोषण हुआ, और होता है। यहाँ ही उन्हें अपना अन्तिम समय बिताना होगा। हिन्दुओं की भीत से उनकी भीत, तथा खेत से खेत लगा हुआ है, चोली-दामन का साथ है। इस तरह भारत की ही भलाई में उनकी भलाई और इस देश की बुराई में उनकी भी बुराई है। उनके कुछ तीर्थ भारत की हद से बाहर हैं और उनका कुछ दूसरे देशों के निवासियों से धर्म-सम्बन्ध है, तो भी उन्हें बाहर से किसी विशेष सहायता की आशा न करनी चाहिए। दुःख हो, सुख हो, हिन्दू ही उनके काम आएँगे।

इसलाम धर्म अवश्य अरब से आया तथा कुछ मुसलमान (जिनकी संख्या दाल में नमक बराबर भी नहीं है) उन लोगों के खानदान के हैं, जिन्होंने पश्चिमोत्तर सीमा से यहाँ प्रवेश किया। लेकिन शेष सब मुसलमान इसी देश के निवासियों में से हैं। वे हमारी ही नस्ल के हैं। पिछली सदियों में किसी लोभ से, ऊँची जाति वालों के दुर्व्यवहार से, अथवा किसी दूसरी मजबूरी से, कुछ हिन्दुओं ने अपना धर्म छोड़कर इसलाम धर्म

ॐ देखिए, हमारी 'निर्वाचन पद्धति'।

मंजूर कर लिया। भारतवर्ष के वर्तमान मुसलमानों में से ज्यादा-तर उनके ही वंशज हैं। राजपूताना और मध्यप्रदेश आदि की स्थिति विचारने से हिन्दू मुसलमानों के घनिष्ठ सम्बन्ध का पता अच्छी तरह मिल सकता है। वहाँ मुसलमानों के बहुत से रिवाज हिन्दुओं से मिलते-जुलते हैं। विवाह तथा मृत्यु सम्बन्धी रीतिरस्म अकसर एकसी होती है। वे हिन्दुओं के देवी-देवताओं को पूजते हैं, ज्योतिषियों में श्रद्धा रखते हैं, गौ और ब्राह्मण का अब तक बहुत मान करते हैं, और हिन्दुओं से मिले रहते हैं।

गोहत्या और बाजा—आम तौर से हिन्दू मुसलिम विरोध गोहत्या तथा बाजे के झगड़े के रूप में सामने आता है। असल में ये बातें तो विरोध या वैमनस्य के सिर्फ बाहरी लक्षण हैं। मूल विकार है भीतरी अविश्वास, जो मुसलमानों के हृदय में हिन्दुओं के प्रति है - चाहे यह अविश्वास अदूरदर्शी और खुदगर्ज नेताओं ने पैदा किया और बढ़ाया है, और चाहे अधिकारियों ने। तो भी गोवध और बाजे के बारे में कुछ विचार कर लेना अच्छा है। गाय की कुर्बानी मुसलमानों के लिए लाजमी नहीं है; यदि यह न की जाय तो उनके उनके मुसलमानपन में कुछ फ़र्क नहीं आता। अरब, मिस्र, मराको, टर्की व ईरान आदि देशों में गाय की कुर्बानी नहीं की जाती। भारत के मुसल-मान भी यदि दूसरे पशु से काम ले लिया करें तो मेल के रास्ते से एक बड़ी रुकावट दूर हो जाय।

मुसलमान भाइयों को यह समझ लेना चाहिए कि भारतवर्ष में, खेती का धंधा मुख्य होने के कारण, बैलों का आर्थिक महत्व

बहुत है, और गोहत्या से सभी की हानि है। जब गौओं की कमी, और उसके कारण दूध घी की कमी और मँहगाई होती है तो हिन्दू और मुसलमान सभी को कष्ट उठाना पड़ता है। इस तरह मुसलमानों को खुद अपने फ़ायदे के लिए भी गोरक्षा का विचार करना चाहिए। मुसलमानों से अकसर अपील की जाती है कि हिन्दू गाय को माता के समान पूज्य मानते हैं, इसलिए गोहत्या नहीं की जानी चाहिए; ऐसी बात का साम्प्रदायिक मुसलमानों पर ज्यादा असर नहीं होता। उनके लिए हमें गो के सवाल को धार्मिक स्वरूप न दे, आर्थिक दृष्टि से रखना चाहिए। और, असल में यह सवाल है भी ज्यादातर आर्थिक ही।

मौलाना मुहम्मदअली ने कोकोनाडा कांग्रेस में सभापति के पद से भाषण देते हुए कहा था, कि 'हिन्दुस्तान के वे मुसलमान, जो महँगा भेड़-बकरी का माँस खरीद सकते हैं, गो-माँस बहुत कम खाते हैं, किन्तु गरीब मुसलमानों के लिए तो यह खास भोजन है।' इस तरह विचार करें तो गोरक्षा का मुख्य उपाय यह है कि गौओं की नस्ल सुधारी जाय, और उनका दूध बढ़ाया जाय जिससे वे अधिक उपयोगी और कीमती हों; उन्हें मारने में नफा न होकर सरासर नुकसान हो।

अब बाजे की बात लीजिए। बहुधा हिन्दुओं के विवाह-शादियों या त्योहारों और उत्सवों के अवसर पर मुसलमान बाजे से अपनी 'नमाज में खलल' (प्रार्थना में बाधा) पड़ने का बहाना लेकर झगड़ा टंटा कर बैठते हैं। लेकिन जब खुद मुसल-मान भाई मोहर्रम आदि के मौके पर खूब धूमधाम करते हैं तो दूसरे मुसलमान कुछ एतराज नही करते। इसी तरह जबकि

बहुत-सी मसजिदें सड़क के किनारे हैं तो इक्के, मोटर, ट्राम आदि का शोरगुल हर समय उन मसजिदों में पहुँचेगा ही, उसे किसी तरह रोका नहीं जा सकता। जो भाई पूजा-प्रार्थना बहुत ही शान्ति से करना चाहते हैं, उन्हें चाहिए कि अपने मन्दिर मसजिद बस्ती से बाहर एकान्त में बनावें। जरूरत है कि संकीर्णता या तंगदिली को छोड़ कर लोग कुछ उदार बनें, और इन तुच्छ बातों पर झगड़ा न किया करें। हम तो मुसलमानों से यह कहेंगे कि अपने पड़ोसो हिन्दू भाइयों के विवाह शादियों और त्योहारों में किसी प्रकार की बाधा डालने के बजाय, उन्हें खुशी मनानी चाहिए। इसी तरह की सलाह हम हिन्दुओं को भी देना उचित समझते हैं।

मौलवी लियाकतहुसेन का कहना है, "हर आदमी को आम रास्ते काम में लाने का हक़ है। हर कोई आम रास्तों पर सजावट और बाजे-गाजे के साथ निकलने का हकदार है। हम मुसलमानों को, मसजिद के पास भी, उनको रोकने का हक़ नहीं है। दूसरे सब मुसलिम देशों में—अरब, फारिस आदि में—बाजा सार्वजनिक मनोरंजन की चीज़ है। वहाँ सार्वजनिक जलूस बाजे के साथ निकाले जाते हैं; फिर, हिन्दुस्तान में ही इतना हल्ला क्यों मचाया जाता है!"

मौलवी कुतुबुद्दीन अहमद (भूतपूर्व मंत्री, बंगाल प्रान्तीय मुसलिम लीग) ने तो गोहत्या और बाजे के प्रश्न को बिलकुल खुदगर्ज़ लोगों का काम बताया है। आपने कहा है मेरे विचार में इस सवाल का शरियत के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है, और कुछ स्वार्थी लोगों ने गोहत्या का पलड़ा बराबर रखने के लिए ही अपनी समाज के अनपढ़ आदमियों को भड़काने का आन्दोलन खड़ा किया है। कुछ भाड़े के मौलवी सर्वसाधारण को समझा रहे हैं कि बाजे का सवाल धार्मिक है, और इसमे धर्म खतरे में पड़ता है। वे इस खिलवाड़ को इसीलिए जारी रखना चाहते हैं, जिसमें उनकी थैली भरे।"

अल्पसंख्यकों की समस्या; दूसरे देशों में इसका हल—भारतवर्ष में विविध सम्प्रदायों का होना कुछ नई बात नहीं है, यह हजारों वर्ष से है; परन्तु अल्पसंख्यकों की समस्या इसी जमाने की है; यह अंगरेजों के समय में, और उनकी सहायता तथा कूटनीति से ही पैदा हुई और बढ़ी है। यह उनके लिए हमें पराधीन रखने में सहायक हुई है। असल में अल्पसंख्यकों की समस्या के नाम पर जो आन्दोलन यहाँ किया जाता है, उससे किसी सम्प्रदायवालों की कुछ खास भलाई नहीं होती। मानलो, एक सम्प्रदाय के निर्वाचक या वोटर कुछ ज्यादा हो गए, या उसके आदमियों के लिए व्यवस्थापक सभाओं में कुछ स्थान सुरक्षित कर दिए गए, या उन्हें कुछ सरकारी नौकरी या प्रतिष्ठा अधिक मिल गई तो यह बात मुट्ठी भर लोगों तक ही तो रहेगी; इससे उस सम्प्रदाय के लाखों-करोड़ों आदमियों की दशा नहीं सुधर सकेगी। इसके खिलाफ, यह सम्भव है कि वे इससे अपनी योग्यता बढ़ाने में कुछ बेपरवाह हो जायँ, और इस तरह अपनी उन्नति में रुकावट डालें। इसके अलावा इससे दूसरे सम्प्रदायों का अल्पसंख्यकों से द्वेष बढ़ने और सहानुभूति घटने की आशंका होती है।

भारतवर्ष में अल्पसंख्यकता का विचार साम्प्रदायिक भेद के आधार पर किया जाता है; दूसरे देशों में ऐसा नहीं किया जाता, वहाँ जातिभेद के आधार पर ही किसी समुदाय को अल्पसंख्यक माना जाता है। मिसाल के तौर पर जेकोसलेविया में जर्मन, पोल और हंगरियन अल्पसंख्यक थे तो जाति-भेद के विचार से, न कि सम्प्रदायिक आधार पर। फिर, योरप के

किसी राज्य में अल्पसंख्यक समुदाय वह माना जाता है, जिसकी कम-से-कम संख्या, वहाँ फी सैकड़ा २० हो। और इन अल्पसंख्यकों को विशेषाधिकार किस बात में मिलता है ? राष्ट्र-संघ (लीग-आफ-नेशन्स) ने विविध राष्ट्रों की सम्मति से जो नियम निर्धारित किए थे, उनमें तीन बातें मुख्य मानी गई थी—(१) राष्ट्रीयता एक तथा अखंड होनी चाहिए; जिस देश में जिन लोगों की संख्या अधिक है, उन्हीं लोगों की राष्ट्रीयता मानी जानी चाहिए, (२) राज्य का शासन इकट्ठा ही होना चाहिए, इसमें किसी जाति के विशेष प्रतिनिधि न होने चाहिएँ, (३) अल्पसंख्यकों की जो रक्षा हो, वह सिर्फ (क) धर्म, (ख) भाषा, और (ग) संस्कृति के ही सम्बन्ध में होनी चाहिए। इन सिद्धान्तों को संसार के बहुत से राज्यों ने अमल में ला रखा है।

इस विचार से भारतवर्ष में मुसलमानों को भारतीय सङ्घ या उसके किसी भाग में जो विशेष अधिकार मिल सकता है वह केवल धर्म, भाषा और संस्कृति के सम्बन्ध में ही हो सकता है। उन्हें किसी तरह राजनीतिक पृथकता (अलहदगी) का अधिकार नहीं मिल सकता, जैसे पृथक् निर्वाचन, विशेष प्रतिनिधित्व, सरकारी नौकरियों की संख्या तय करना, या प्रान्तों का बँटवारा आदि। ❀ इसी प्रकार दूसरे सम्प्रदायों के सम्बन्ध में विचार किया जा सकता है।

अस्तु, अब इस देश से ब्रिटिश सत्ता उठ जाने पर इन फूट डालने और द्वेष बढ़ाने वाली बातों का भी अन्त हो गया।

❀ यही बात हमें पाकिस्तान के हिन्दुओं के सम्बन्ध में कहनी है।

स्वराज्य-प्राप्त भारतीय सङ्घ के नए केन्द्रीय तथा प्रान्तीय विधान में पृथक् चुनाव पद्धति उठा दी गई और संयुक्त निर्वाचन-पद्धति ही स्वीकार की गई है।

एकता और समझौते—हम पहले कह चुके हैं कि गाँवों में हिन्दू-मुसलमानों की संस्कृति और रहनसहन में खास फरक नहीं है; वहाँ इनके झगड़े शुरू नहीं होते, ये झगड़े तो शहरों में होते हैं; और वहाँ से कभी-कभी गाँवों में पहुँचने लगते हैं। आचार्य बिनोबा ने ठीक लिखा है कि 'कुछ महत्वाकाँक्षी, बेकार और पढ़े-लिखे लोग दोनों को भिड़ाकर खिलवाड़ करते हैं, ये लोग प्रायः शहरी ही होते हैं। ऐसे आदमी जहाँ तक उनका वश चलता है, एकता नहीं होने देते।'

बहुत से देश-प्रेमी सज्जन तरह-तरह के सम्प्रदायों में एकता कायम करने के उत्सुक रहते हैं, इसलिए यहाँ समय-समय पर एकता-सम्मेलन हुए और कई बार समझौते हुए। लेकिन अभी सच्ची एकता नहीं हुई। उन लोगों की देशभक्ति में तो सन्देह करने का कोई कारण नहीं है जो जैसे-बने एकता करना चाहते हैं, पर 'जैसे-बने' के नीति के मूल में ही दोष है। असल में वही एकता या समझौता सफल और स्थायी होता है जिसका आधार सबके साथ न्याय हो। विशेषाधिकार के प्रलोभन या बाजारू मोलभाव के पक्षपात-पूर्ण समझौते से जो सफलता होती है, वह थोड़ी ही देर रहती है। जिस समूह के साथ एक बार कोई अनुचित रियायत कर दी जाती है, वह साधारण तौर से अपनी अलहदगी का अनुभव करने लगता है, उस रियायत को अपना अधिकार समझने लगता है, और पीछे उसे और

अधिक बढ़वाने की फिक्र में रहता है। इस तरह उसका असंतोष बना रहता है, और वह एकता में बाधक होता है।

एकता की कोशिश कामयाब न होने का एक कारण यह भी है कि समझौते 'नेताओं' से किए गए, जिन्हें समाज-हित से ज्यादा अपनी नेतागिरी की चिन्ता होती है। ये लोग समझौते के लिए, अमल में न आ सकनेवाली शर्तें रखते हैं, साम्प्रदायिकतापूर्ण भाषण देते या वक्तव्य प्रकाशित करते हैं, और अलग संस्था बनाए रखकर अपना मतलब सिद्ध करते रहते हैं। इन नामधारी नेताओं से समझौता करने में सफलता की आशा छोड़कर राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं को सीधे जनता के सम्पर्क में आना चाहिए; खासकर आर्थिक कार्यक्रम रखकर लोगों में कार्य करना चाहिए। इस दिशा में कुछ कार्य किया गया है। उसका नतीजा भी बहुत अच्छा हुआ है। यदि कुछ समय लगातार ऐसा काम होता रहे तो मुसलमानों की राष्ट्रीय कार्य में भाग लेने की, प्रवृत्ति या झुकाव बढ़े; साथ ही वे अपने ऊपर से पुराने, साम्प्रदायिक नेताओं की नेतागिरी का भार उतार फेंकने में भी समर्थ हों।

महात्मा गाँधी ने सन् १९२४ में साम्प्रदायिक दंगों से दुखी होकर २१ दिन का अनशन किया। इस अवसर पर एकता-परिषद् हुई, जिसमें गम्भीरतापूर्वक विचार-विमर्श हुआ। सन् १९३२ में महात्मा जी ने ब्रिटिश प्रधान मन्त्री के उस 'साम्प्रदायिक निर्णय' के विरोध में आमरण अनशन किया, जिससे हरिजनों को अलग मताधिकार देकर हिन्दुओं से जुदा करने की कोशिश की गई थी। महात्मा जी के अनशन से पूना का

समझौता हुआ, उसके अनुसार यह व्यवस्था की गई कि हरिजनों के लिए व्यवस्थापक सभाओं में निर्धारित अनुपात में स्थान सुरक्षित रखे जायँ; उनका अलग चुनाव न हो। महात्मा जी के अलावा कुछ दूसरे महानुभावों ने भी भारतीय समाज में एकता स्थापित करने के लिए बहुत कोशिश की है। परन्तु ऐसे नेता देश में कुल मिलाकर थोड़े ही हैं।

एकता स्थापित होने में एक खास बाधा हमारी पराधीनता रही है। विदेशी शासकों ने ऊँचे-ऊँचे सिद्धान्तों की बातें करते हुए भी अकसर दिल से यह नहीं चाहा कि देश से अनेकता और फूट दूर हो; इसी के सहारे तो वे यहाँ जमे रहे। जब कभी कोई समझौते की बात उठी, वे चौकन्ना हो गए। मिसाल के तौर पर सन् १९४४ में गांधी-जिन्ना वार्तालाप शुरू होने के जरा ही पहले लार्ड वावेल ने गांधीजी को साफ लिख दिया था कि 'अगर कांग्रेस और मुसलिम लीग में समझौता हो जाय तब भी अछूत; देशी राज्य, सिक्ख, और दूसरे अल्पमतवाले मौजूद हैं।' इस भेद की खाई को पार करने का, जैसा कि 'विश्ववाणी' ने लिखा है, सिर्फ एक ही रास्ता है, और वह वही है जो कबीर नानक, दादू, तुकाराम चैतन्य, शाह कलन्दर, चिश्ती, बाबा फरीद आदि सैकड़ों हिन्दू मुसलमान सन्त हमें बता गए हैं। वह रास्ता प्रेम का रास्ता है, विश्वास का रास्ता है, भाईचारे का रास्ता है, स्वार्थ से ऊपर उठने का रास्ता है, समन्वय का रास्ता है, त्याग का रास्ता है, और एकता का रास्ता है। जो हो, साम्प्रदायिक मतभेद की बात ऊपरी है; खास सवाल आर्थिक और राजनीतिक है। जब जनता पूरी तरह जग जायगी और स्वार्थी

नेताओं की बातों में आना छोड़ देगी तो आदमी मिलकर सब के कष्ट हटाएँगे और राष्ट्रोन्नति करेंगे; तब साम्प्रदायिक समस्या खुद ही मिट जायगी।

विशेष वक्तव्य—हमें यह अनुभव करना चाहिए कि हम चाहे जिस सम्प्रदाय आदि के क्यों न हों, भारतवर्ष में रहने के नाते हम सब भारतीय हैं; और भारतवर्ष की भलाई में हम सब की भलाई है; अलग-अलग जातियों या सम्प्रदायों के पृथक्-पृथक् हितों का विचार करना ठीक नहीं है।

सातवाँ परिच्छेद

राष्ट्रीय भावों का प्रचार

—०—

नसों में रक्त भारत का उदर में अन्न भारत का।
करों में कर्म भारत का, हृदय में मान भारत का ॥१॥
तजो भय शोक व लज्जा, बुरी है सौख्य की सज्जा।
कहो हाँ, मांस अरु मज्जा, सभी तन प्राण भारत का ॥२॥

—राधामोहन गोकुल जी

"मैं भारतवर्ष के उजड़े हुए खंडहर का ज़र्रा हूँ।
"यही पूरा पता मेरा, यही है कुल निशाँ मेरा ॥
"अगर ये प्राण तेरे वास्ते, ए देश! नहि जावें।
"तो इस हस्ती के तख्ते से, मिटे नामोनिशां मेरा ॥"

प्राक्कथन—पहले बताया जा चुका है कि भारतवर्ष में एकता के साधन काफी मौजूद हैं। वे साधन राष्ट्रीयता में सहायक

हैं, परन्तु उन सब के होते हुए भी एक बात ऐसी है, जिसके न होने से राष्ट्र मानो बिना 'ड्राइवर' की मोटर कहा जा सकता है। वह बात है, भावों की एकता, अथवा राष्ट्रीय भावना। राष्ट्र का हरेक आदमी दूसरे के सुख को अपना सुख समझकर उसे बढ़ाने में सहायक हो और दूसरों के दुःख को अपना दुःख मानकर उसको हटाने के लिए तैयार रहे। इस प्रकार के प्रचार से राष्ट्रीय समस्याओं को हल करने में बहुत सहायता मिलती है। इस विषय का विचार करने के लिए पहले स्वदेशानुराग या देश-प्रेम की बात लें।

स्वदेशानुराग—चाहे कितने ही गुणों वाला क्यों न हो, जिस मनुष्य का स्वदेश से अनुराग नहीं, अपनी जाति और भाषा से प्रेम नहीं, वह मनुष्य जीता हुआ भी मरे हुए के बराबर है, और पशु से भी गया बीता है।

अंगरेज महाकवि स्काट कहता है—"जिस आदमी ने अपनी जन्मभूमि से हार्दिक प्रेम नहीं किया है, वह चाहे जितना धनवान, ज्ञानवान, और बुद्धिमान् क्यों न हो, वह अपनी जाति का आदर और प्रेम नहीं पा सकता। जब तक वह जीता है उसके भाई-बन्धु उससे घृणा करते हैं, उसके मरने पर उसकी इस लोक में निन्दा होती है; उसकी आत्मा को कभी शान्ति नहीं मिलती।"

सभ्य संसार में, उन्हीं देशों की गिनती होती है, जिनके निवासी स्वदेशानुराग में पगे हों। फिर, क्यों न हम अपने देश के अनुराग या मोहब्बत में रंग जायँ? हमें घूमफिर कर विविध स्थानों की यात्रा करके अपनी मातृभूमि का दर्शन करना चाहिए। हमारा देश अच्छे जलों वाला, चन्दन से शीतल हरे-हरे खेतों वाला, सफेद चाँदनीवाली निखरी हुई रातों वाला,

और खुशबूदार फलों से लदे हुए पेड़ों वाला है। यह प्रकृति देवी का बहुत प्यारा क्रीड़ास्थल है। क्या आसमान को छूने-वाली पर्वत-श्रेणी, क्या ऊँची लहरें लेता हुआ नीले जल वाला अथाह समुद्र, क्या वृक्ष, लता, पत्र, पुष्प वाले बाग बगीचे, क्या जंगली पशुओं से भरे हुए वन उपवन, क्या बड़े-बड़े महलों से शोभायमान नगर, क्या हरे-भरे खेतों से घिरे हुए गाँव, क्या साधु संन्यासियों के योगाश्रम—किसी भी दृश्य की हमारे देश में कमी नहीं है। भारत भूमि सारे जगत की प्रदर्शनी या नुमायश कही जा सकती है। संसार की बढ़िया से बढ़िया चीजें प्रकृति ने यहाँ लाकर रख दी हैं; हमारी मातृभूमि जगत के ज्ञान, सभ्यता और धर्म की जननी या माता है।

हिन्दुओं के प्राचीन शास्त्रकार कहते हैं कि मनुष्य बहुत पुण्यफल से इस पवित्र कर्मभूमि भारतवर्ष में जन्म लेता है। बहुत से मुसलिम महापुरुषों की समाधियाँ और अनेक मुसलमानों की शक्ति, सभ्यता और गौरव की अनगिनत यादगारें रखने के कारण, यह भूमि मुसलमानों के लिए भी पवित्र है।

क्या हमारे देश में राजा हरिश्चन्द्र जैसे सत्यवादी, महाराजा रामचन्द्र जैसे आज्ञा पालन करनेवाले, महात्मा कृष्ण जैसे योगी, पितामह भीष्म जैसे दृढ़ प्रतिज्ञा वाले, गौतम बुद्ध जैसे सुधारक, कणाद व पतंजली जैसे दार्शनिक, युधिष्ठिर जैसे धर्मात्मा, प्रताप, शिवाजी, हैदर और टीपू जैसे वीर, दयानन्द और शंकराचार्य जैसे बाल-ब्रह्मचारी, तथा अशोक, अकबर, मीरकासिम जैसे प्रजा-प्रेमी शासक पैदा नहीं हुए हैं? क्या हमारी भाषा में सूर, तुलसी, केशव, रहीम, मलिकमुहम्मद

जायसी और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जैसे महाकवि नहीं हुए हैं ? जब किसी बात में भी हमारा देश दूसरे देशों से, हमारी जाति दूसरी जातियों से, तथा हमारी भाषा दूसरी भाषाओं से कम नहीं, तो हम अपने देश, अपनी जाति तथा अपनी भाषा से प्रेम करने में दूसरों से पीछे क्यों रहें !

भारत माता और उसकी सेवा—देश-प्रेम के लिए यह ज़रूरी है कि लोगों को स्वदेश के पूरे रूप की कल्पना हो, वे उसके किसी खास हिस्से को ही जन्मभूमि या मातृभूमि न मानें। हालाँकि यहाँ प्राचीन काल में धार्मिक और सांस्कृतिक एकता बनाए रखने की अच्छी कोशिश हुई, मध्यकाल में अलग-अलग हिस्सों के निवासियों का दृष्टिकोण बहुत संकुचित या तंग रहा। असल में अब से कुछ समय पहले तक लोगो ने अपने हृदय में भारत माता के पूरे रूप को बहुत कम धारण किए। ज्यादातर आदमियों ने उसके एक-एक हिस्से की ही कल्पना की। वे प्रान्तीयता से ऊँचे नही उठ सके। किसी ने केवल हिन्दू माता के दर्शन किए, किसी ने पंचनद माता के; किसी ने बंग माता के। इस समय भी हिन्दू राष्ट्र की पुकार सुनने में आती है।* सन्तोष का विषय है कि अब विचारशीलों का दृष्टिकोण उदार और व्यापक होता जा रहा है, सर्वसाधारण अधिकाधिक संख्या में भारत माता के पूरे स्वरूप का विचार करने लगे है। इस ज़माने में, इस दिशा में, सबसे पहले

---

* कुछ कट्टर मुसलिम नेताओं ने साम्राज्यवादी अंगरेजों का सहारा पाकर पाकिस्तान राज्य अलग ही बना डाला। इसके बारे में आगे लिखा जायगा।

पथ-प्रदर्शक या रहनुमाओं में स्वामी विवेकानन्द और रामतीर्थ मुख्य हैं।

स्वामी राम ने कहा है कि "भारतवर्ष वह शरीर है, सुदृढ़ केमोरण जिसके चरण हैं, हिमालय जिसका उच्च सिर है। परम पवित्र गंगा और ब्रह्मपुत्र जिसके मस्तक से निकली हैं, विन्ध्याचल जिसकी कमर में बँधा हुआ कमरबन्द है, कारोमण्डल और मालाबार जिसकी दाईं और बाईं भुजाएँ हैं, जो सब मानव जाति से प्रेम करने को फैली हैं।"

"जैसे शैव शिव की पूजा करता है, वैष्णव विष्णु की, ईसाई ईसा की, और मुसलमान मोहम्मद की उपासना करता है; वैसे प्रेम में लीन होकर मैं भारत के हृदय को अपने हृदय में लाकर उसकी पूजा करता हूँ। जिस समय मुझे कोई भारतवासी दिखलाई पड़ता है, चाहे वह शैव हो या वैष्णव, ईसाई हो या मुसलमान, पारसी हो या सिक्ख, संन्यासी हो अथवा परिया—भारत माता के हर एक लाल को मैं मूर्तिमान भारत ही समझकर उसकी पूजा करने लगता हूँ। हे भारत माता! मैं तेरे हर एक रूप में तेरी उपासना करता हूँ। तू ही मेरी काली है, तू ही मेरा इष्टदेव है, तू ही मेरा सालिग्राम है।"

जननी जन्मभूमि का हम पर कितना ऋण या उपकार है! उसकी गोद में हम पले हैं, उसके अन्न-जल से हमारा शरीर मज़बूत हुआ है, उसके मधुर फलों का हमने स्वाद लिया है, उसके घी-दूध से हमारा बल बढ़ा है। उसके कपास और ऊन से हमारा तन ढका है। उसने हमारा मल-मूत्र सहा है, वह हमारी माँ की भी माँ है, वह हमारे अन्तकाल में हमारे भौतिक शरीर को आश्रय देगी। ऐसी आदर्श माता को कोई विवेकशील आदमी कैसे भुला सकता है! हमें उसके तरह-तरह के उपकारों की याद कर यथासंभव उससे उऋण होने की कोशिश करनी चाहिए।

"क्योंकर भला हो मुमकिन, तकलीफ न उठाएँ।
"बच्चे सपूत जो हों, बीमार माँ की खातिर ॥
'सौ बार गर जनम हो, तो भी यही धरम हो।
'मर जायँगे, मरेंगे, हिन्दोस्ताँ की खातिर ॥"

राष्ट्रीय जयन्तियाँ और त्योहार—राष्ट्रीय भावनाओं के प्रचार के लिए जरूरी है कि हम साम्प्रदायिकता या प्रान्तीयता के संकुचित विचारों से ऊपर उठें, उदारता, सहिष्णुता, धार्मिक स्वतंत्रता, विचार-स्वतन्त्रता, देशभक्ति, त्याग और बलिदान आदि अच्छे-अच्छे गुणों की महिमा समझें। इसका एक अमली उपाय है, आदर्श वीरों या राष्ट्रीय महानुभावों का आदर करना, जयन्तियाँ मनाना। कैसा दुर्भाग्य है कि हम लोगों ने दूसरी चीजों की तरह उनका भी बँटवारा कर लिया है—यह महापुरुष हिन्दुओं का है, यह मुसलमानों या ईसाइयों का! इस तरह कुछ आदमी सोचते हैं कि यह महापुरुष बंगालियों के लिए आदरणीय है, और यह महात्मा पंजाब या महाराष्ट्र वालों के लिए है।

आवश्यकता है कि हम देश के हरेक महापुरुष, सुधारक, तपस्वी, त्यागी और सेवा-भाव वाले महात्मा के गुणों का आदर करें, उसके आदर्श को सामने रखें, हर वर्ष उसकी जयन्ती मनाकर जनता को उसके शिक्षाप्रद चरित्र की याद कराते रहें। ऐसी जयन्ती मनाने में हमें चरित्रनायकों के वंश, जाति, धर्म या प्रान्त के भेद-भाव का विचार न करना चाहिए। हिन्दुओं को मुसलमान और ईसाई महापुरुषों की जयन्तियों तथा त्योहारों में खूब उत्साह से भाग लेना चाहिए। ऐसा ही निवेदन

हम अपने मुसलमान और ईसाई आदि भाइयों से करते हैं। उनकी नजर अब संकुचित या तंग न रहकर उदार होनी चाहिए। इसके लिए जरूरी है कि सब धर्मों के आचार्य तथा नेता जनता को उचित रास्ता दिखावें।

श्री० पीरमुहम्मद 'मूनिस' ने क्या अच्छा कहा है—हिन्दुस्तान के बुजुर्ग श्री रामचन्द्र और श्रीकृष्णचन्द्र भी अपने वक्त में पैगम्बर और रसूल गुजरे हैं। फिर क्यों न हम मुसलमान इन हिन्दुस्तानी रसूलों का अपने नजदीक वही दर्जा और इज्जत तसलीम करें, जो हजरत मूसा. हजरत ईसा वगैरह की किया करते हैं। अगर हकीकत में यह सच्चा भाव, राष्ट्रीयता ही के लिहाज से क्यों न हो, हमारे मुसलिम भाइयों के नजदीक आ जाय, तो मुझे बहुत-कुछ उम्मीद है कि आज दिन इन दोनों महान जातियों में जो इतनी बड़ी विभिन्नता नजर आ रही है, वह कुछ दिनों के बाद देखने में न आएगी; और दोनों जातियाँ एक दूसरे की सभ्यता और संस्कृति की क़द्र करने लग जायँगी।

"आज हिन्दुस्ताय का महान राष्ट्रीय त्योहार (विजयदशमी) है, जिस पर हम दोनों जातियाँ, जितना फख्र करें, थोड़ा है। इसी दिन श्री रामचन्द्र जी ने भारत की शान के लिए, सचाई के सिद्धांत के लिए, मज़लूमों की हिमायत और जातियों के जुल्म का बदला लेने के लिए, लंका फ़तह की, और रावण को हलाक (वध) किया। यह त्योहार भारत के नैतिक विजय का त्योहार है। इसने दुनिया में इस सच्चाई को सदा के लिए कायम किया कि पाप पर पुण्य की, असत्य पर सत्य की, अधर्म पर धर्म की, पशुबल वाले पर निर्बल की, पापात्मा पर पुण्यात्मा की विजय होती है, और होती रहेगी। ऐसे पवित्र दिन को क्या राष्ट्रीय त्योहार का दिन मानना उचित नहीं है!"

अस्तु, किसी प्रान्त के महापुरुष का जयन्ती-उत्सव उस प्रांत के बाहर भी देश-भर में उत्साह और जोश के साथ मनाया जाना चाहिए। इससे राष्ट्रीयता और मानवता का भाव उदय होने में

बड़ी सहायता मिलेगी और राष्ट्र-संगठन का कार्य बहुत आसान होगा।❀

राष्ट्रीय नेताओं के नाम का दुरुपयोग न हो—इस प्रसंग में इस बात का यथेष्ट ध्यान रखा जाना चाहिए कि व्यापार-बुद्धि वाले लोभी और स्वार्थी आदमी अपनी दुकान, या सीग्रेट बीड़ी, शराब आदि चीजों के नाम के साथ राष्ट्रीय नेताओं का नाम न जोड़ें। खेद है कि गांधी चप्पल, या नेहरू बीड़ी आदि चीजें बाजार में आने लगी हैं। सुभाष भोजनालय और गांधी होटल आदि नाम भी दूषित मनो-वृत्ति के सूचक हैं। कुछ आदमियों को शराब आदि के साथ भी राष्ट्रीय नेताओं का नाम जोड़ने में कोई संकोच न होगा। हमारे यहाँ लोकमत ऐसा प्रबल होना चाहिए कि कोई इस तरह के नाम प्रचलित न करे, और ऐसी बातों को बन्द करने के लिए कानून की सहायता की आवश्यकता न हो।

जनता में प्रचार—राष्ट्रीय भावों के प्रचार के लिए दूसरे उचित उपायों तथा अवसरों का भी उपयोग करते रहना चाहिए। मिसाल के तौर हम अपने त्योहारों, उत्सवों और मेले तमाशों के अवसर पर तरह-तरह से जनता में राष्ट्रीय भाव भर सकते हैं; मेलों में उपयोगी विषयों पर अच्छे-अच्छे भाषण करा सकते हैं, नशीली चीजों की मनाही, अस्पृश्यता-निवारण, स्वदेशी-वस्तु-प्रचार, समाज-सुधार आदि के विषयों पर मन बहलानेवाली बातचीत या प्रश्नोत्तर (सवाल-जवाब) कर सकते हैं, या सुन्दर दृश्य दिखा सकते हैं। मेजिक लालटेन, सिनेमा, और नाटकों आदि से सर्वसाधारण के मन में राष्ट्रीय

❀ इस विषय में हमारी 'श्रद्धाञ्जली' पुस्तक पढ़नी चाहिए, उसमें हिन्दू, मुसलमान और ईसाई, देशी और विदेशी, पूर्वी और पश्चिमी—सभी प्रकार के महापुरुषों के प्रति आदर और श्रद्धा जाहिर की गई है।

आदर्शों की अच्छी छाप बैठाई जा सकती है। राष्ट्रीय गान बनवाकर उनका प्रचार करने से भी राष्ट्रीय भावों के प्रचार में बड़ी मदद मिल सकती है। सरल भाषा के मनोहर गाने बालकों को बहुत जल्दी याद हो जाते हैं, वे उन्हें सड़कों और बाजारों में गाते रहते हैं, इससे उनमें ही नहीं, सुननेवालों में भी देश-प्रेम की भावना जागृत होती है।

राष्ट्रीय सप्ताह—राष्ट्रीयता के भावों को स्थूल रूप देने के सम्बन्ध में राष्ट्रीय सप्ताह का कार्यक्रम विशेष उपयोगी है। १३ अप्रेल १९१९ को अमृतसर में सरकारी दमन की वह क्रूर घटना हुई थी, जिसे आम बोलचाल में 'जलियाँवाला-बाग-कांड' कहा जाता है। इसकी याद में हर वर्ष ६ से १३ अप्रेल तक 'राष्ट्रीय सप्ताह' मनाया जाता है। इस समय रचनात्मक कामों की ओर खास ध्यान दिया जाता है, ये कार्य आगे लिखे हैं—(१) साम्प्रदायिक एकता, (२) अस्पृश्यता निवारण, (३) नशाखोरी हटाना, (४) खादी प्रचार, (५) ग्रामोद्योग (६) गाँवों की सफाई, (७) बुनियादी शिक्षा, (८) प्रौढ़-शिक्षा, (९) स्त्रियों की उन्नति, (१०) स्वास्थ्य और सफाई की शिक्षा, (११) राष्ट्र-भाषा का प्रचार, (१२) अपनी भाषा से प्रेम, (१३) आर्थिक समानता, और (१४) किसानों, मजदूरों और विद्यार्थियों का संगठन।

स्वदेशी—ऊपर खादी प्रचार और ग्रामोद्योग का भी उल्लेख हुआ है। इनके सम्बन्ध में कुछ विशेष कहना है। ऐसी कोशिश होनी चाहिए कि हमारे उदाहरण और अनु-रोध से सर्वसाधारण ग्रामोउद्योग और स्वदेशी का व्रत धारण

करें। वे यथा-सम्भव अपनी समस्त आवश्यकताओं को भारत में बनी हुई वस्तुओं से पूरा करें। कुछ वर्षों से शुद्ध स्वदेशी खद्दर के प्रचार का आन्दोलन हो रहा है; इस एक ही स्वदेशी वस्तु के व्यवहार से यहाँ के करोड़ों रुपयों का प्रति वर्ष विदेश जाना रुक गया है। अभी आन्दोलन की और भी बहुत आवश्यकता है। खेद है, बहुत-से भाइयों को हाथ से कते सूत का और हाथ से बुना हुआ खद्दर मानो काँटे की तरह चुभता है। वे महीन से महीन कपड़ा पहिनना चाहते हैं. चाहे उससे नीचे का बदन ही क्यों न दिखाई दे। दुःख का विषय है कि महिलाओं में भी यह निर्ल्लजतासूचक रोग बढ़ रहा है। नजाकत की हद हो गई! इसमें शीघ्र सुधार होना चाहिए।

मातृ-वन्दना—हमारे बहुत से भाई नित्य पूजा-पाठ करते हैं, अपने अपने इष्ट देवी देवता की याद और स्तुति करते हैं। देशप्रेमी सज्जनों को चाहिए कि जननी-जन्मभूमि की पूजा और वन्दना करना अपना नित्यकर्म बनावें। वे शुद्ध उदार हृदय से भारत माता की प्रार्थना करें, उसकी प्राचीन गौरव-गाथा का पाठ पढ़ें, वर्तमान जरूरतें पूरी करने का संकल्प करें, उसके आशामयी भावी स्वरूप का चित्र अपने चित्त में जमावें और सुयोग्य माता के सुयोग्य पुत्र बनने के लिए जी-जान से उद्योग करें।

[मातृभक्ति के भावों का प्रचार करने में भारतीय ग्रन्थमाला की 'मातृवन्दना' पुस्तक बहुत सहायक होगी।]

———

आठवाँ परिच्छेद

राष्ट्रीय झंडा और गीत

—— ÷ ——

यह झंडा खेल मत समझो, यही मुल्की निशानी है।
इसी के आसरे मुल्कों में, क़ौमी क़दरदानी है॥
समझलो मुनहसिर इस पर, ही यारो ज़िन्दगानी है।
कटा कर सर भी अपना, फ़र्ज़ इसकी निगहबानी है॥
उठो आगे बढ़ो, इसकी बचालो शान ए यारो।
'बहादुर' जान रखते हो, तो इस पर जान को वारो॥

———

माँ की माँ है, जन्मभूमि सब की पूज्यतम्।
सब मिल कहिए, प्रेम से बस बन्देमातरम्॥



झण्डे का महत्व—राष्ट्रीय भावों के विकास के लिए हरेक राष्ट्र का एक खास तरह का राष्ट्रीय झंडा होता है, इससे यह पता लगता है, कि उस राष्ट्र में जीवन है, और स्वतंत्रता-प्रेम यानी आजादी की मोहब्बत है। अकसर यह झंडा यह भी बतलाता है कि उस राष्ट्र को संसार के दूसरे देशों से क्या विशेषता है। झंडे का और राष्ट्र-निवासियों का आपसी सम्बन्ध होता है। राष्ट्र के आदमी अपने झंडे में बड़ी श्रद्धा और भक्ति रखते हैं, और उसके सम्मान या इज्जत की रक्षा करने के लिए अपना जीवन सहर्ष न्योछावर करते हैं। यह झंडा भी वहाँ

रहनेवालों में उत्साह, साहस और वीरता के प्रबल भावों का संचार करता है। राष्ट्रीय झंडे के नीचे आकर देशवालों के सब भेद-भाव नष्ट हो जाते हैं, और सब आदमी राष्ट्र-प्रेमी होने का परिचय देते हैं। अंगरेज़ अपने 'यूनियन जेक' के लिए, आवश्यकता होने पर, अनेक वीरों की बलि देने को तैयार रहते हैं। अमरीका वाले अपने 'तारा-पट' को देखकर गद्‌गद् हो जाते हैं। जापान ने अपने 'उगते हुए सूर्य' वाले झंडे के गौरव की रक्षा के वास्ते रूस-जापान युद्ध में कितना अनुपम त्याग किया था! यह 'अर्द्ध-चन्द्र' वाला झंडा देखकर तुर्कों की नस-नस में नया खून जोश मारने लगता है। इसी तरह दूसरे सभ्य और उन्नत राष्ट्रों का उदाहरण दिया जा सकता है।

भारतवर्ष में राष्ट्रीय झंडा; सन् १९२१ में—भारतवर्ष के झंडे का इतिहास बहुत पुराना है। श्रीमद्भगवद्गीता में अर्जुन को 'कपिध्वज' कहा गया है; इससे मालूम होता है कि महाभारत-काल में झंडे पर हनुमान का चित्र होता था। अशोक का झंडा गेरुआ था। गुप्तकाल में गरुड़ध्वजा का उपयोग होता था, जो वैष्णव मत का निशान है। महाराणा प्रताप के लाल झंडे पर सिंह का, और शिवा जी के झंडे पर भवानी और तलवार का चित्र था।

पिछली सदियों में, देश में कोई एक ऐसा झंडा नहीं रहा, जिसे सभी लोग अपनाएँ। यह बात पहले-पहल प्रवासी भारतीयों को बहुत खटकी। राष्ट्रीयता के भावों के उदय होने पर विचारशील भारतवासियों के मन में अपना एक राष्ट्रीय झंडा बनाने का विचार पैदा हुआ। कई नमूने सामने आए। उन

पर कई तरह से विचार हुआ। सन् १९२१ में म० गांधी ने यह राय दी—

"भारतवर्ष के राष्ट्रीय झन्डे में सफेद, हरा और लाल रंग रहें। लाल रंग हिन्दुओं को ज़ाहिर करनेवाला हो, हरा मुसलमानों को, और सफेद दूसरे धर्मों को। कमजोर सम्प्रदायों के रंग को झन्डे में पहले स्थान मिले, उसके बाद मुसलमानी रंग को और उसके बाद हिन्दू रंग को। इसका मतलब यह है कि बलवान ही निर्बलों के रक्षक का काम करेगा, इसके अलावा सफेद रंग शान्ति और पवित्रता की भी निशानी है। छोटे और बड़ों में समानता ज़ाहिर करने के लिए तीनों रंगों को बराबर-बराबर जगह दी जाय।

"इस झन्डे के एक ओर चर्खे का चित्र हो। भारतवर्ष एक महादेश है जो इङ्गलैंड की तरह सहज ही में औद्योगिक देश नहीं बनाया जा सकता। हमारी एकमात्र आशा राष्ट्र के दुरुपयोग किए हुए समय का सदुपयोग करना ही होनी चाहिए, जिससे हम अपनी झोपड़ियों में रूई से कपड़े बनाकर देश के धन को बढ़ा सकें। इसी के द्वारा हम सारे संसार को सूचित करते हैं कि हमने अब भोजन-वस्त्र के सम्बन्ध में किसी पर ज़रा भी निर्भर न रहने की ठान ली है। झन्डा खद्दर का हो, क्योंकि भारत मोटे कपड़े द्वारा ही विदेशी बाजारों से स्वाधीन हो सकता है। यदि धार्मिक संस्थाएँ इस तर्क से सहमत हों तो वे अपने धार्मिक झन्डों में भी इसे रखें।"

जगह-जगह इस नमूने के राष्ट्रीय झण्डे बनाए गए। कांग्रेस-कमेटियों के दफ्तरों पर, ऐसी म्युनिसिपेलिटियों के दफ्तरों पर जिनमें राष्ट्रीय दल प्रधान था, और बहुत से मकानों पर ऐसे झण्डे फहराने लगे। मान्यवर नेताओं के अभिनन्दन, स्वागतसत्कार और जुलूसों में यह झण्डा बहुत जरूरी माना जाने लगा।

झंडा सत्याग्रह——अधिकार-प्रेमी अधिकारियों को हमारी राष्ट्रीयता बढ़ानेवाली दूसरी बातों की तरह इस राष्ट्रीय झण्डे

की योजना और प्रचार से भी चिढ़ होना स्वाभाविक था। उन्होंने झंडा निकालनेवालों पर तरह-तरह के दोष लगाए और उन्हें 'कानूनी' धाराओं का शिकार बनाया। लेकिन इन बातों से लोगों में राष्ट्रीयता का प्रेम बढ़ता ही गया। सन् १९२३ ई० में नागपुर का सुप्रसिद्ध झण्डा-सत्याग्रह हुआ; अनेक नवयुवक और महिला स्वयंसेविकाएँ झण्डे के सम्मान के लिए खुशी-खुशी जेल गईं; उन्होंने लाठी-वर्षा आदि के कष्ट सहे, पर झंडा ऊँचा ही रखा। उस वर्ष कोकोनाडा में कांग्रेस अधिवेशन के अवसर पर राष्ट्रपति मौलाना मोहम्मदअली ने यह राष्ट्रीय झंडा फहराया। उस समय से हर साल कांग्रेस में राष्ट्रीय झंडा फहराया जाने लगा। प्रान्तीय राजनीतिक या राष्ट्रीय सभा-समितियों के अधिवेशनों का भी यह एक आवश्यक कार्यक्रम हो गया।

झंडा-वंदन—सन् १९२४ ई० से पहले राष्ट्रीय झंडावन्दन अर्थात् झंडे की सलामी का कोई निश्चित ढङ्ग नहीं था। उस वर्ष हिन्दुस्तानी सेवादल ने इसके नियम बनाए; उनका हर जगह पालन किया जाने लगा। श्री० श्यामलाल जी पार्षद ने 'झंडा ऊँचा रहे हमारा' झंडा-गान बनाया; यह सब से पहले सन् १९२५ ई० में कानपुर के कांग्रेस अधिवेशन में गाया गया।

झंडा गान

झंडा ऊँचा रहे हमारा।
विजयी विश्व तिरंगा प्यारा॥
सदा शक्ति बरसानेवाला, प्रेम-सुधा सरसाने वाला।
वीरों को हरषानेवाला, मातृभूमि का तन मन सारा॥
झंडा ऊँचा रहे हमारा॥ १॥

स्वतंत्रता के भीषण रण में, लखकर जोश बढ़े क्षण-क्षण में;
कांपे शत्रु देख कर मन में, मिट जावे भय संकट सारा॥
झंडा ऊँचा रहे हमारा॥ २॥

इस झंडे के नीचे निर्भय, लें स्वराज्य वह अविचल निश्चय;
बोलो भारत माता की जय, स्वतन्त्रता हो ध्येय हमारा।
झंडा ऊँचा रहे हमारा॥ ३॥

आओ, प्यारे वीरो आओ, देश-धर्म पर बलि-बलि जाओ;
एक बार सब मिल कर गाओ, प्यारा भारत देश हमारा।
झंडा ऊँचा रहे हमारा॥ ४॥

शान न इसकी जाने पाए, चाहे जान भले ही जाए;
विश्व विजय करके दिखलाए; तब होवे प्रण पूर्ण हमारा।
झंडा ऊँचा रहे हमारा॥ ५॥ ❀

सन् १६२६ की ३१ दिसम्बर की रात को बारह बजे लाहौर में रावी तट पर कांग्रेस ने पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव पास किया था। तब से प्रति वर्ष २६ जनवरी को स्वाधीनता-दिवस मनाया जाता है। उस दिन राष्ट्रीय झंडा फहराया जाता रहा है, और स्वाधीनता प्रतिज्ञा ली जाती रही है। अब स्वाधीनता प्राप्त होने पर प्रतिज्ञा का रूप बदल गया है। झंडा अब भी नियमानुसार फहराया जाता है।

झंडे के रंग—उस समय राष्ट्रीय झंडे के रंग अलग-अलग जातियों को बतलाने वाले थे; और स्वतंत्र रूप से रंग सिर्फ हिन्दुओं और मुसलमानों के ही थे। इससे दूसरे लोगों को

❀ १५ अगस्त १६४७ से, स्वराज्य प्राप्त करलेने के कारण, इस झंडा-गान को बदलने या इसमें कुछ संशोधन करने का विचार हो रहा है।

एतराज होने लगा। सिक्ख आदि जातियों ने अपने-अपने अलग अलग रंगों को झंडे में स्थान दिए जाने की माँग की। अन्त में सन् १९३१ में फिर बहुत विचार-विनिमय हुआ। पीछे कांग्रेस-कार्यसमिति ने निश्चय किया कि राष्ट्रीय झण्डे के रंग जातियों या धर्मों को नहीं, गुणों को जाहिर करनेवाले माने जाएँगे। इस विचार से झण्डे में तीन रङ्ग रखे गए; ऊपर की पट्टी केशरी रंग की, धैर्य और त्याग बताने वाली; बीच की पट्टी सफेद रंग की, सत्य और शान्ति बतानेवाली; नीचे की पट्टी हरे रंग की, विश्वास और प्रताप बतानेवाली। बीच की सफेद पट्टी पर गहरे नीले रंग का चर्खा बनाए जाने का निश्चय किया गया। साथ ही यह भी तय किया गया कि झण्डे की लम्बाई और चौड़ाई में तीन और दो का अनुपात रहे, और झण्डे का कपड़ा खादी अर्थात् हाथ का कता और हाथ का बुना सूती, रेशमी या ऊनी हाना चाहिए!

राष्ट्रीय झंडा, सन् १९३५ के बाद—सन् १९३५ ई० के विधान के अनुसार सन १९३७ से सन् १९३९ तक गवर्नरों के ग्यारह प्रान्तों म से आठ में, कुछ अधूरा ही सही, कांग्रेस-शासन रहा। इस समय इन प्रान्तों में सरकारी इमारतों पर भी तिरङ्गा झण्डा फहराया गया। तथापि समस्त भारतीय जनता ने इस झण्डे को सर्वोच्च स्थान नहीं दिया। जाति, समूह या सम्प्रदायों की विभिन्नता झण्डों की अनेकता में प्रकट होती रही। साधुओं और महन्तों को तो मानो राष्ट्रीय झण्डे से कुछ मतलब ही नहीं था, कुछ हिन्दू भगवा झण्डे की याद बनाए रखना चाहते थे। बहुत से आर्यसमाजियों को सिर्फ ओ३म् का

झंडा प्यारा था, तो कितने ही किसानों और मजदूरों को रूस का लाल झण्डा ही अच्छा लगता था। इनके अलावा बहुत से साम्प्रदायिक मुसलमान राष्ट्रीय झण्डे को एक दल विशेष का झण्डा समझते, और अपना झण्डा अलग रखते अथवा इंगलैंड के 'यूनियन जैक' को सिर नवाते रहे। राजाओं का भी रुख ठीक नहीं रहा, कुछ ने तो समय-समय पर इसका अपमान किया। तो भी इस झंडे ने राजब का काम कर दिखाया। इसने निहत्थी जनता को अपूर्व आत्मबल और साहस प्रदान किया, और १९४२ के आन्दोलन में उसे अधिकाधिक त्याग और बलिदान करने के लिए प्रोत्साहित किया। सन् १९४१-४५ में श्री नेता सुभाष बोस और और आजाद हिन्द फौज के द्वारा इस झंडे को विदेशों में भी खूब प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। इसी का यह फल है स्वराज्य-प्राप्त भारतीय संघ के लिए यह थोड़े से परिवर्तन सहित सरकारी झंडा हो गया है।

स्वतन्त्र भारत का झण्डा; स्वाधीनता और बन्धुत्व का संदेशवाहक—२२ जुलाई १९४७ को विधान-सभा ने निश्चय किया कि कांग्रेस का केशरिया, सफेद, हरा—तिरंगा झण्डा भारत का राष्ट्रीय झण्डा होगा, और उसके बीच में अशोक का धर्मचक्र अंकित रहेगा। इस विषय के प्रस्ताव को पेश करते हुए पंडित जवाहर लाल नेहरू ने जो प्रभावशाली भाषण दिया, उससे इस झंडे के उद्देश्य या संदेश सम्बन्धी बातों पर सुन्दर प्रकाश पड़ता है। आपने कहा -

"यह बड़े गर्व की बात है कि आज जिस झण्डे को हम आपके बीच प्रस्तुत कर रहे हैं वह साम्राज्यवादी झण्डा नहीं है, वह दूसरे राष्ट्र पर

प्रभुत्व स्थापित करने का झण्डा नहीं है। बल्कि वह स्वतन्त्रता का सच्चा प्रतीक है। वह हमारे लिए ही नहीं बल्कि सबके लिए स्वतन्त्रता का प्रतीक है। जहाँ भी यह झंडा जायगा—और मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह झंडा केवल वहीं नहीं जाएगा जहाँ भारतीय रहते हैं, अथवा हमारे राजदूत रहेंगे, बल्कि दूर, बहुत दूर हमारे जहाजों पर लहराता हुआ यह झंडा जाएगा—इस झंडे के द्वारा स्वतन्त्रता, आशा और बन्धुत्व का सन्देश हम संसार के विभिन्न देशों में पहुँचाएँगे। झंडे के द्वारा हम यह सन्देश देंगे कि भारत सारे संसार का मित्र होकर रहना चाहता है, और जो देश गुलाम हैं, उन्हें आजाद होने में सहायता पहुँचाना चाहता है। यह झण्डा आजादी, दोस्ती, आशा और बन्धुत्व का प्रतीक है। यही झण्डा हमारा राष्ट्रीय गौरव है।

"इस झण्डे के पीछे एक इतिहास है। यह हमारे सफल संघर्ष का सूचक है। हमारा महान उद्देश्य पूरा हो रहा है। कुछ बातें ऐसी भी हो गई हैं, जो हमें नापसन्द हैं; किन्तु हमें यह भी अनुभव करना चाहिए कि जो हमारी आकांक्षाएँ थीं, उन्हें पूरा करने के लिए अब मौका मिलेगा। हमारे स्वप्न पूरे होंगे।

"इस झण्डे के रङ्गों में हमारी हजारों वर्ष की राष्ट्रीय परम्परा प्रकट होती है। कलात्मक दृष्टि से यह संसार का बहुत ही सुन्दर झण्डा है।

"इस झण्डे में कुछ परिवर्तन किए गए हैं। चर्खे के निशान की जगह अशोक का गोल चक्र रखा गया है, क्योंकि चर्खा दोनों ओर से एकसा नहीं दिखता। अशोक का चक्र पुरातन भारतीय संस्कृति का ही द्योतक नहीं है, बल्कि उससे हमें यह भी ज्ञात होता है कि हमारे उद्देश्य क्या थे। अशोक का समय भारतीय इतिहास के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय युग था, जबकि भारतीय दूत और सन्देशवाहक सुदूर देशों में साम्राज्यवाद की भावना से नहीं, बल्कि शान्ति और सद्भावना फैलाने के लिए गए थे।"

१५ अगस्त; राष्ट्रध्वजारोहण—१५ अगस्त १९४७ को स्वाधीन भारत (भारतीय संघ) राष्ट्र का जन्म हुआ। उस दिन

हमारे प्रधान मंत्री श्री नेहरू जी ने उमंग से लहराते हुए जन-समुदाय के बीच लाल किले पर नया राष्ट्रीय झण्डा फहराया। भारतीय संघ और उसमें सम्मिलित देशी रियासतों में यह झण्डा स्थान-स्थान पर—सरकारी इमारतों, सार्वजनिक संस्थाओं तथा लोगों के निजी मकानों पर भी—बड़े समारोह से फहराया गया। १५ अगस्त का दिन हमारे राष्ट्रीय इतिहास में अपना विशेष महत्व रखता है।

झंडे की मर्यादा—स्वाधीनता-संग्राम में राष्ट्रीय झंडे का अधिक से अधिक उपयोग आवश्यक था, और देश प्रेमियों ने अनेक कष्ट सहकर भी उसका प्रदर्शन किया। अब देश स्वाधीन हो गया है, और यह झंडा स्वतंत्र भारत सरकार का प्रतीक है। वर्तमान स्थिति में इसके उपयोग की मर्यादा रहनी चाहिए; अनियमित व्यवहार से इसकी प्रतिष्ठा घटती है। इसलिए सरकारी आदेश के अनुसार अब राष्ट्रीय झंडा केवल प्रमुख सरकारी इमारतों पर रहेगा, जैसे हाइकोर्ट सचिवालय, (सेक्रेटेरियट) कमिश्नरों के दफ्तर, अदालतें, जेल, जिला-बोर्ड और म्युनिसपेलटियों के दफ्तर, सीमा क्षेत्र के विशेष स्थान, केन्द्रीय तथा प्रान्तीय मंत्रियों, चीफ कमिश्नरों, विदेशों के प्रतिनिधियों, राजाओं और राजप्रमुखों के निवास स्थान आदि।

मोटरों के सम्बन्ध में झंडे का उपयोग केवल केन्द्रीय तथा प्रान्तीय मंत्रियों, व्यवस्थापक सभाओं के अध्यक्षों, चीफ कमिश्नरों विदेशों के प्रतिनिधियों, राजाओं और राजप्रमुखों की मोटरों तक ही परिमित रहेगा।

स्वाधीनता-दिवस, राष्ट्रीय सप्ताह, म० गांधी के जन्म-

दिवस और अन्य राष्ट्रीय उत्सवों पर झंडे के उपयोग पर कोई प्रतिबन्ध न होगा।

यह अत्यन्त आवश्यक है कि राष्ट्रीय झंडे के उपयोग की इस मर्यादा का यथेष्ट ध्यान रखा जाय। विज्ञापिनों या साइन-बोर्ड अथवा साधारण मकान या पोशाक आदि पर झंडा लगाना उसका अपमान करना है। यह झंडा कोई फेशन, शौक या प्रदर्शन की वस्तु नहीं है। नागरिकों को इसका सोच-समझ कर निर्धारित सीमाओं में ही उपयोग करना चाहिए।

× × ×

राष्ट्र-गीत; बन्देमातरम् की शक्ति—संसार के हरेक देश में राष्ट्रीय झण्डे की तरह राष्ट्र-गीत का भी बहुत आदर होता है। हरेक स्वाभिमानी राष्ट्र का अपना-अपना राष्ट्र-गीत है, जो सार्वजनिक उत्सवों तथा सभाओं आदि में गाया जाता है, और वहाँ सुननेवालों में जीवन और उत्साह का संचार करता है। हमें यहाँ भारतवर्ष के राष्ट्र-गीत के विषय में विचार करना है। यद्यपि यहाँ 'बन्देमातरम्' की रचना किसी संस्था द्वारा, राष्ट्र-गीत के रूप में, नहीं की गई, और न उसके प्रचार के लिए कोई खास सरकारी या गैर-सरकारी आन्दोलन ही हुआ, तो भी यह वह गीत है जिसने उत्तर से दक्षिण तक लोगों को देशभक्ति तथा वीरता के भावों से ओतप्रोत कर दिया है; जिसने हजारों नव-युवकों को स्वेच्छाचारी अधिकारियों का विरोध करके, जेल की मुसीबतें और तरह-तरह की चोटें सहने की सामर्थ्य दी है। यह गीत प्रवासी भारतवासियों में स्वदेशाभिमान का संचार करने में सफल हुआ है। इसकी प्रेरणा से हिन्दू और मुसमान कंधे

से कंधा भिड़ाकर राष्ट्रीय संग्राम में उतरे हैं। १६१६-२८ ई० और उसके बाद के आन्दोलनों में वह भी एक अजीब नजारा होता था, जब पुलिस-कर्मचारी जनता की सार्वजनिक सभाओं को भंग करने के लिए, या विदेशी वस्त्रों पर धरना देनेवाले युवकों तथा महिलाओं को उनके काम से हटाने के लिए अत्याचार और ज्यादती करते थे, और भारतीय पुरुष और स्त्रियाँ ऊँची आवाज से "बन्देमातरम्' का नारा लगातीं और पुलिस की नई चोट सहने के लिए तैयार हो जाती थीं। इस तरह इस गीत की अनोखी शक्ति के अनेक सबूत मिले हैं।

गीत की रचना और प्रचार—इस गीत की रचना भारत के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार श्री० बंकिमचन्द्र जी चेटर्जी ने स्वतन्त्र रूप से की थी, पीछे इन्होंने इसे अपने 'आनन्दमठ' नाम के उपन्यास में स्थान दिया, जो सन् १८८२ ई० में प्रकाशित हुआ। इन्होंने उस समय की प्रवृत्ति के अनुसार इस का सम्बन्ध अंगरेजी राज की प्रशंसा के साथ किया था। उस समय इस गीत का विशेष प्रचार नहीं हुआ। पीछे, जब बंग-विच्छेद आदि की अप्रिय घटनाओं से भारतवासी ब्रिटिश राज की मोह-माया छोड़ने लगे और विदेशी शासन से छुटकारा पाने पर कटिबद्ध हुए तो 'बन्देमातरम्' उनके लिए एक बड़ी शक्ति बढ़ानेवाला मन्त्र सिद्ध हुआ। बिना किसी संगठित सहायता के यह गीत घर-घर पहुँच गया। इस गीत के लिए लोगोंने जुर्माना, कैद, लाठी-वर्षा—क्या नहीं सहा! धीरे-धीरे जमाना बदला। बन्देमातरम् की दीक्षा पाए हुए सज्जनों ने सन् १६३७-३६ में ब्रिटिश भारत के प्रान्तों में शासन-सूत्र तक ग्रहण किया।

सम्प्रदायवादियों का विरोध—इस समय भी इस राष्ट्र-गीत को विरोध तो सहना ही पड़ा। यह विरोध था, सम्प्रदाय-वादियों की ओर से। कुछ मुसलिम नेताओं का यह मत रहा कि यह गीत राष्ट्र-गीत नहीं है; इसमें हिन्दू धर्म के चिन्हों की, मूर्ति-पूजा आदि की, भावना है; यह इस्लाम विरोधी है। इन बातों में कोइ सार नहीं था। यह ठीक है कि 'आनन्द-मठ' में मुसलमानों के शासन के प्रति विद्रोह-भाव है। लेकिन असल में यह विद्रोह तो पराधीनता के प्रति है। फिर, जैसा ऊपर कहा गया है, 'बन्देमातरम्' गीत की रचना 'आनन्द-मठ' सेपहले स्वतन्त्र रूप से हुई है। इसलिए उस उपन्यास में स्थान में दिए जाने के कारण, मूल गीत की भावना मेंदोष निकालना अनुचित है। इसके अलावा अनेक बार धार्मिक और प्रमुख मुसलिम नेताओं ने इस गीत को गाया, और इसके लिए तरह-तरह के कष्ट सहे। अनेक विचारवान मुसलमानों ने इसे राष्ट्र-गीत स्वीकार किया है। तो भी कुछ मुसलमानों के ऊपर बताए हुए विरोध के कारण कांग्रेस ने यह निश्चय किया कि राष्ट्रीय सभाओं में इस गीत के प्रथम दो ही पद गाए जायँ, जो प्राय: गाए जाते हैं। पूरा गीत आगे लिखा है:—

बन्देमातरम्

सुजलाम् सुफलाम् मलयज शीतलाम्
शस्य-श्यामलाम मातरम् ॥
शुभ्र - ज्योत्स्ना - पुलकित- यामनीम्
फुल्ल - कुसुमित - द्रुमदल -शोभनीम्
सुहासनीम् सुमधुर - भाषिणीम्

सुखदाम् वरदाम् मातरम् ॥ वन्दे० ॥
त्रिंश-कोटि कंठ –कलकलनिनाद-कराले,
द्वित्रिंशकोटि भुजैधृ त खर-करवाले,
के बोले मा तुमि अबले ?
बहुबल धारिणीम् नमामि तारिणीम्
रिपुदल वारिणीम् मातरम् ॥ वन्दे० ॥
तुमि विद्या ; तुमि धर्म,
तुमि हृदि, तुमि मर्म,
त्वं हि प्राणाः शरीरे !
बाहुते तुमि मा शक्ति
हृदये तुमि भक्ति
तोमरई प्रतिमा गड़ी मन्दिरे मन्दिरे ॥ वन्दे० ॥
त्वं हि दुर्गा दशप्रहरणा धारिणी
कमला कमलदल विहारिणी
वाणी विद्यादायिनी नमामि त्वाम् !
नमामि कमलाम्, अमलाम्, अतुलाम्
सुजलाम् सुफलाम् मातरम् ॥ वन्दे० ॥
श्यामलाम् सरलाम् सुस्मिताम् भूषिताम्
धरणीम् भरणीम् मातरम् ॥ वन्दे० ॥

दूसरा राष्ट्रीय गीत; 'जन गण मन अधिनायक'—सभाओं का संचालन करनेवालों को यह स्वतन्त्रता रही है कि वे 'वन्देमातरम्' के अतिरिक्त, या उसकी जगह दूसरा कोई ऐसा गीत गावें, जो आपत्तिजनक न हो। तथापि अभी तक 'वन्देमातरम्' गान का ही उपयोग होता रहा है। पर अब कुछ

समय से इस विषय में दूसरा विचार भी होने लगा है। यद्यपि कौनसा गीत राष्ट्र-गीत हो, इसका अंतिम निर्णय करने का काम विधान सभा के लिए छोड़ा गया है, प्रधान मन्त्री आदि कुछ अधिकारियों का झुकाव 'जन गण मन अधिनायक' गीत की ओर प्रतीत हुआ है। यह गीत इस प्रकार है :—

जनगणमन—अधिनायक जय हे, भारत-भाग्य-विधाता।
पंजाब सिन्ध गुजरात मराठा द्राविड उत्कल बंग,
विन्ध्य हिमाचल यमुना गंगा उच्छल जलधि-तरंग,
तव शुभ नामे जागे तव शुभ आशिष मांगे,
गाहे तव जय गाथा।
जनगण-मंगलदायक जय हे भारत-भाग्य-विधाता।
जय हे! जय हे! जय हे!
जय जय जय, जय हे ॥ १ ॥
अहरत तव आह्वान प्रचारित सुनि तव उदार बानी
हिन्दु बौद्ध सिख जैन पारसिक मुसलमान क्रिस्तानी,
पूरब पश्चिम आशे तव सिंहासन पासे
प्रेमहार हय गाथा।
जनगण-ऐक्यविधायक जय हे भारत - भाग्य - विधाता।
जय हे! जय हे! जय हे।
जय जय जय, जय हे ॥ २ ॥
पतन-अभ्युदय बंधुरपंथा, युग-युग-धावित यात्री
हे चिर सारथि, तव रथचक्रे मुखरित पथ दिनरात्री
दारुण विप्लव माझे तव शंखध्वनि बाजे
संकट - दुख - त्राता।

जनगण - पथ परिचायक जय हे, भारत - भाग्य - विधाता
जय हे ! जय ! जय हे
जय जय जय, जय हे ॥ ३ ॥
घोर तिमिर घन निबिड निशीथे पीडित मूर्च्छित देशे
जाग्रत छिल यव अविचल मंगल नत नयने अनिमेषे
दुःस्वप्ने आतंके रक्षा करीले अंके,
स्नेहमयी तुमि माता ।
जनगण - दुःखत्रायक जय हे भारत - भाग्य - विधाता
जय हे ! जय हे ! जय हे
जय जय जय, जय हे ॥ ४ ॥
रात्रि प्रभातिल उदिल रविच्छवि पूर्व-उदयगिरि-भाले,
गाहे विहंगम, पुण्य समीरण नवजीवन-रस ढाले ।
तव करुणारुण रागे निद्रित भारत जागे,
तव चरणे नत माथा
जय जय जय हे, जय राजेश्वर, भारत-भाग्य-विधाता !
जय हे ! जय हे ! जय हे !
जय जय जय जय हे ॥ ५ ॥

दोनों गीतों की तुलना—दोनों ही गीतों की भाषा बंगला, और उच्चकोटि की बंगला है । यही कारण है कि संस्कृत-निष्ठ हिन्दी, मराठी, तेलगू, गुजराती आदि भाषाओं के वे बहुत निकट हैं । दोनों में राष्ट्र-सम्मान और भक्ति की भावना ओत-प्रोत है । 'जन गण मन अधिनायक' गीत महाकवि रवीन्द्र ठाकुर की रचना है । यह गीत जार्ज पंचम के भारत आगमन पर दिल्ली दरबार के अवसर पर उनके स्वागत में रचा गया था ।

इसके समर्थन में कहा जाता है कि इसकी राग और लय अधिक आकर्षक है, दूसरे सगीत के साथ इसका मेल ठीक बैठता है। गत वर्षों में आजाद हिन्द फौज ने इसे अपनाया था, और दक्षिण-पूर्वी एशिया में इसने लोकप्रियता प्राप्त करली है। भारतीय सेना में इसका उपयोग होता है, और विदेशी राजदूतों ने इसकी प्रशंसा की है। परन्तु 'वन्देमातरम्' की विशेषता यह है कि इसने पराधीन भारतीयों में नवजीवन का संचार किया है और उन्हें राष्ट्र की वेदी पर हंसते-हंसते न्योछावर होने को तैयार किया है। इसे भारतवर्ष को स्वाधीन करने का सुयश प्राप्त है, इसकी पृष्ठभूमि में भारतीय राष्ट्र का सुदीर्घ और गौरवपूर्ण इतिहास निहित है। ये बातें 'जन गण मन अधिनायक' में कहां हैं! रही स्वर, ताल और लय आदि की बात; उन्हें उपर्युक्त गुणों की अपेक्षा अधिक महत्व नहीं दिया जाना चाहिए। फिर वन्देमातरम् का राग और लय निश्चित की जा सकती है, और आवश्यकता हो तो इस गीत में कुछ परिवर्तन भी किया जा सकता है, पर उसे सर्वथा हटा कर उसकी जगह दूसरा राष्ट्र-गीत निश्चित करने की उपयोगिता नहीं मालूम होती।

इस प्रकार जहां तक इन दोनों गीतों का सम्बन्ध है; हम 'वन्देमातरम्' को अधिक पसन्द करते हैं; यों राष्ट्र-भाषा हिन्दी में सरल, भाव-पूर्ण राष्ट्र-गीत की बहुत आवश्यकता है। योग्य कवियों को इस ओर ध्यान देना चाहिए।

नवाँ परिच्छेद

राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि

हिन्दी को राष्ट्र-भाषा और देवनागरी को राष्ट्र-लिपि स्वीकार करने में ही भारतीय संघ का कल्याण है। हमारा यह कार्य साम्प्रदायिक या धार्मिक विद्वेष से प्रेरित नहीं है। हिन्दी तो इस देश के हिन्दू-मुसलमानों की संयुक्त भाषा है।

—बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

(१) राष्ट्र-भाषा

हिन्दी भाषा की स्वाभाविक योग्यता—राष्ट्र-भाषा के सम्बन्ध में कुछ बातें 'राष्ट्रीयता के साधन' शीर्षक परिच्छेद में कही जा चुकी है। यहाँ उसके सम्बन्ध में कुछ दूसरी बातों का विचार करना है। किसी देश में वही भाषा राष्ट्र भाषा हो सकती है, जो वहाँ उत्तर से दक्षिण, पूर्व से पश्चिम तक थोड़ी-बहुत अवश्य बोली जाती हो, आसानी से समझी जाती हो, और जो थोड़ी मेहनत से सीखी जा सकती हो। भारतवर्ष में ऐसी भाषा हिन्दी ही है। हिन्दी भाषा का केन्द्र संयुक्तप्रान्त है। यहाँ से इसकी लहरें चारों ओर फैली हैं; यहाँ तक कि इसकी सीमाएँ बंगला तामिल, तेलगू कन्नड़, मलयलम, मराठी और गुजराती सब भाषाओं से जा मिली हैं। इस तरह हिन्दी इन सबके मिलने की जगह है। जब भारतवर्ष के अलग-अलग प्रान्तों के

आदमी आपस में मिलते हैं; तो वे जिस भाषा का उपयोग करके अपना काम चलाते हैं, वह हिन्दी का ही कुछ बदला हुआ स्वरूप होता है। बंगाली कहेगा, 'आप क्या बात करता है।' गुजराती कहेगा, 'आप जल पीओ न, काँई हरकत छे!' इस प्रकार हिन्दी भाषा, बिना किसी मेहनत के बनती और फैलती है। इससे इसकी, राष्ट्र-भाषा होने की, स्वाभाविक योग्यता का परिचय मिलता है।

इसके अलावा, हिन्दी में एक महत्वपूर्ण विशेषता है, जिससे यह इस पद के लिए यहाँ की दूसरी भाषाओं से अधिक योग्य साबित होती है; वह विशेषता है, इसका भारतीय संस्कृति और सामाजिक जीवन के, सबसे अधिक नजदीक होना। इस पर इस देश के उत्थान और पतन, उन्नति और अवनति की, और समय-समय पर चलनेवाले तरह-तरह के आन्दोलनों की छाया बराबर पड़ती रही है। यह जनता की धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक दशा का सच्चा चित्र उपस्थित करती रही है।

हिन्दी और उर्दू—हिन्दी से भारतवर्ष की जो भाषा सबसे ज्यादा मिलती है, वह उर्दू है। असल में हिन्दी और उर्दू एक ही भाषा के दो रूप हैं, क्योंकि दोनों के क्रिया-पद, विभक्ति, प्रत्यय, अव्यय और सर्वनाम एक ही हैं। पहले इन दोनों भाषाओं में सिर्फ लिपि का फर्क माना जाता था। देवनागरी लिपि में लिखी हुई भाषा को 'हिन्दी', और फारसी लिपि में लिखी हुई उसी भाषा को 'उर्दू' कहा जाता था। लेकिन पीछे उर्दू के लेखकों ने अपनी भाषा को विद्वानों और अमीर-उमरावों की भाषा बनाने की धुन में, उसमें फारसी और अरबी के

मुश्किल-मुश्किल शब्दों की भरमार करनी शुरू करदी। यही नहीं, उन्होंने भाषा की शैली भी बदल डाली। मिसाल के तौर पर उन्होंने वकील, साहब, और हाकिम शब्दों को बहुवचन में वुकला, असहाब, और हुक्काम लिखा। अमनचैन को अमन-ओ-आमान, धार्मिक उत्साह को जोश-ए-मज़्हब, और हिन्द माता को मादरे हिन्द कहा। इस तरह उन्होंने हिन्दी व्याकरण के अनुसार न चल कर जब भाषा को ईरानी या अरबी का लिबास पहनाया तो उनकी भाषा यहाँ की साधारण जनता की समझ में आने लायक न रही। दूसरी तरफ की बात यह है कि हिन्दी में संस्कृत शब्दों का प्रयोग बहुत पुराने जमाने से होता आ रहा था, और कितने ही मुसलमानों ने इस भाषा की कीमती सेवा की थी। लेकिन धीरे धीरे संस्कृत के कठिन शब्दों का प्रयोग बढ़ने से यह भाषा, खासकर अरबी मिली हुई उर्दू वालों के लिए, बहुत मुश्किल होती गई। इस तरह कठिन उर्दू और कठिन हिन्दी दो अलग-अलग भाषाएँ होगईं।

'अंजुमने तरक्की उर्दू' के सेक्रटरी मौलवी अब्दुल हक ने सन् १९३३ में बड़ौदे की उर्दू कान्फ्रेन्स में कहा था—"एक जमाना था कि दोनों (हिन्दी और उर्दू) एक हो सकती थीं। लेकिन अब रोज-बरोज इनमें इस कदर बुअ्द (अन्तर) पैदा होता जाता है कि इनको एक जगह लाना और एक कर देना अख्तियार से बाहर हो गया है। इस बुअ्द को कम करने के लिए बारहा यह कहा जाता है कि उर्दू वाले अरबी फारसी के सक़ील (कठिन) अल्फाज (शब्दों) से, और हिन्दी वाले इस क़िस्म के संस्कृत अल्फाज से, एहतराज (परहेज) करें। यह मशविरा बहुत माकूल है; लेकिन अमल करना दुश्वार है।"

इसी तरह हिन्दी साहित्य सम्मेलन के तीसवें अधिवेशन में, जो

दिसम्बर १६४१ में, अबोहर (पंजाब) में हुआ; एक प्रस्ताव में यह निश्चय किया गया—'वास्तव में उर्दू भी हिन्दी से उत्पन्न, अरबी-फारसी-मिश्रित एक रूप है। हिन्दी शब्द के भीतर ऐतिहासिक दृष्टि से उर्दू का समावेश है, किन्तु उर्दू की साहित्यिक शैली, जो थोड़े से आदमियों में सीमित है, हिन्दी से इस समय इतनी विभिन्न हो गई है कि सम्मेलन उसकी पृथक् सत्ता स्वीकार करता है, और हिन्दी की शैली से भिन्न मानता है।'

हिन्दुस्तानी—इधर कुछ समय से कितने ही सज्जनों की यह इच्छा रही है कि आसान हिन्दी और आसान उर्दू के मिले हुए स्वरूप हिन्दुस्तानी का प्रचार किया जाय। हिन्दुस्तानी के मुख्य प्रवर्तक म० गांधी हैं। आपके मत से हिन्दुस्तानी का मतलब उर्दू नहीं, बल्कि हिन्दी और उर्दू की वह खूबसूरत मिलावट है, जिसे उत्तरी हिन्दुस्तान के गांवों के लोग—हिन्दू और मुसलमान समझ सकें। जो भाषा नागरी और उर्दू लिपि में लिखी जाती है, वह पूरी राष्ट्र भाषा है, बाकी अधूरी है। पूरी राष्ट्र-भाषा सीखनेवालों को आज तो दोनों लिपियाँ सीखनी चाहिएँ, और दोनों रूप जानने चाहिएँ।' सन् १६२५ में महात्मा जी के आग्रह पर कांग्रेस ने हिन्दुस्तानी को पहली बार अपने भाषण, लेखन और प्रकाशन का माध्यम बनाया। सन् १६३७-३८ में कांग्रेस सरकार वाले प्रान्तों में हिन्दुस्तानी को सरकारी आश्रय भी मिला। कांग्रेसी कार्यक्रम में हिन्दुस्तानी को ऊँची जगह तो बराबर ही मिलती रही है।

मई १६४२ में म० गांधी ने 'हिन्दुस्तानी प्रचार सभा' कायम की थी। इस के बाद सदस्यों के जेल में रहने के कारण सभा का काम स्थगित सा रहा। नवम्बर १६४४ में सभा का वार्षिक

जल्सा हुआ, और काम किया जाने लगा। सभा के पहले सम्मेलन में, फरवरी १९४५ में दो प्रस्ताव पास हुए। पहला प्रस्ताव देवनागरी और उर्दू लिपियों को लोकप्रिय बनाने के सम्बन्ध में था। उसमें कहा गया कि जो व्यक्ति इनमें से किसी एक लिपि को जानते हों, उन्हें दोनों लिपियाँ सीखनी चाहिएँ। दूसरे प्रस्ताव में एक कमेटी बनाने के लिए कहा गया, जो कोष तैयार करने, व्याकरण और कोष के नियम निश्चित करने, तथा उपर्युक्त प्रकार का साहित्य तैयार करने का काम करे।

हिन्दुस्तानी भाषा सम्बन्धी कई कार्य हो रहे हैं। म० गाँधी की इच्छानुसार हिन्दुस्तानी कोष तैयार करने के विचार से पिछले दिनों अंगरेजी 'हरिजन' में अंगरेजी शब्दों के अर्थ क्रमशः देवनागरी और फारसी दोनों लिपियों में दिए गए। हिन्दुस्तानी प्रचार-सभा की ओर से हिन्दुस्तानी की परीक्षाओं की व्यवस्था की गई है, और बहुत से स्थानों में उसके परीक्षा-केन्द्र स्थापित हैं। सन् १९४६ से 'हिन्दुस्तानी कलचर सोसाइटी', प्रयाग की ओर से 'नया हिन्द' नाम का एक मासिक पत्र एक-साथ देवनागरी और फारसी दोनों लिपियों में प्रकाशित होता है, भाषा दोनों लिपियों में एक ही रहती है। इस सोसाइटी के सेक्रेटरी श्री० पंडित सुन्दरलाल जी हैं। आपकी कई पुस्तकें दोनों लिपियों में छपी हैं; दोनों लिपियों में भाषा वही रहती है।

हिन्दुस्तानी और सर्वसाधारण—हिन्दुस्तानी भाषा सम्बन्धी काम से कुछ लोगों का विरोध और बहुतों की उदासीनता रही है। अनेक आदमी इसे सन्देह की दृष्टि से देखते रहे

हैं। इस कार्य का उद्देश्य हिन्दी और उर्दू का समन्वय करना, और दोनों के बीच का रास्ता निकालना था। म० गांधी के प्रभाव से हिन्दी वालों ने इस ओर अपेक्षाकृत अधिक ध्यान दिया, पर हिन्दुस्तानी के कुछ कार्यकर्ताओं द्वारा इस भाषा में अरबी फारसी के कठिन शब्दों और शैली की भरमार होते देख कर धीरे-धीरे उनकी यह धारणा हो चली कि हिन्दुस्तानी की आड़ में उर्दू का प्रचार किया जा रहा है, और यह हिन्दी भाषा पर गुप्त प्रहार है! दूसरी ओर, उर्दू वालों ने हिन्दुस्तानी को बहुत ही कम अपनाया। वे उर्दू का प्रयोग पहले की ही तरह करते रहे, उन्होंने उसकी शैली आदि में परिवर्तन या संशोधन करके हिन्दुस्तानी की दिशा में विशेष प्रगति न की। हिन्दी वालों की यह इच्छा रही कि हिन्दुस्तानी भाषा में अरबी फारसी के शब्द कम-से-कम आवें। उर्दू वाले जो थोड़ा-बहुत हिन्दुस्तानी की ओर झुके तो उनकी यह कोशिश रही कि उसका रूप उर्दू का सा ही रहे, इसमें जहाँ तक मुमकिन हो, संस्कृत के शब्द शामिल न किए जाएँ!

कुछ सज्जनों ने दोनों तरफ का पलड़ा बराबर रखने का प्रयत्न किया। उन्होंने ऐसी भाषा लिखी, जिसमें अगर दस शब्द संस्कृत के थे तो अनुपात बराबर रखने के लिए दस शब्द अरबी फारसी के भी रखे गए; चाहे ये शब्द प्रचलित या आम-फहम हों या न हों कुछ विद्वानों ने अपनी भाषा में संस्कृत शब्द के साथ अरबी फारसी का, और अरबी फारसी शब्द के साथ संस्कृत का शब्द रखने का नियम सा बना लिया; परन्तु कुछ इने-गिने अपवादों को छोड़ कर ऐसे प्रयत्नों से बहुधा भाषा का

प्रवाह जाता रहा, और पाठकों या श्रोताओं को यह मालूम होने लगा कि हिन्दुस्तानी कोई स्वाभाविक भाषा नहीं है, यह कृत्रिम है। और, भाषा तो कुदरती होनी चाहिए, वह गढ़ी नहीं जानी चाहिये। इस प्रकार सर्वसाधारण ने हिन्दुस्तानी भाषा के प्रचार से विशेष सहानुभूति नहीं दिखाई; वे इस ओर उदासीन रहे।

पाकिस्तान बनने के बाद—यह सब होते हुए भी बहुत से विचारशीलों को हिन्दुस्तानी के कार्य और प्रचार से सहानुभूति रही। वे यह आशा करते रहे कि धीरे-धीरे इस कार्य के बढ़ने से हिन्दू मुसलमान एक दूसरे के अधिक नजदीक आवेंगे, हिन्दू-मुसलिम समस्या का एक अंग हल होने में सहायता मिलेगी, और साम्प्रदायिकता का ह्रास होगा। दुर्भाग्य से अधिकाँश मुसलिम जनता का नेतृत्व कट्टर और महत्वाकाँक्षी व्यक्तियों के हाथ में रहा। ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा भी साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहन मिलता रहा। इसका परिणाम यह हुआ कि अगस्त १९४७ से भारतवर्ष का विभाजन होकर पाकिस्तान एक अलग राज्य बन गया। अब हिन्दुस्तानी के मामले में म० गाँधी का प्रभाव कम हो चला। भारतीय संघ में यह खुले-आम कहा जाने लगा कि 'हिन्दुस्तानी एक बिलकुल बनावटी या गढ़ी हुई भाषा है। इसका हमारे जीवन में, हमारी संस्कृति में कोई स्थान नहीं है। यह समाज के साथ एक मखौल है। इसका जन्म राजनीतिक समस्या को हल करने के लिए हुआ था। पर अब तो हिन्दू-मुसलिम एकता का स्वप्न भंग हो गया, भारतवर्ष की अखंडता नष्ट हो गई। अब भारतीय संघ में उर्दू को हिन्दी

के बराबर स्थान देने या हिन्दुस्तानी का प्रचार करने की आवश्यकता नहीं; यहाँ तो हिन्दी का राज्य होना चाहिए।'

संयुक्तप्रान्त, मध्यप्रान्त और बिहार तथा राजपूताना-मध्य-भारत की कुछ रियासतों की सरकारों ने हिन्दी को राजभाषा बना दिया है। कुछ अन्य स्थानों में भी राजभाषा हिन्दी ही होने की आशा है। सर्वसाधारण की माँग है कि भारतीय विधान सभा द्वारा हिन्दी भारतीय संघ की राजभाषा घोषित की जाय। कुछ नेता, खासकर म० गांधी के मतानुयायी हिन्दी को यह महत्व देना नहीं चाहते, परन्तु साधारण लोकमत स्पष्ट है।

पाकिस्तान की बात यह है कि उसके विविध प्रदेशों के आदमियों की भाषा ऐसी जुदा-जुदा है कि वहाँ उर्दू का सर्वव्यापी होना बहुत कठिन है। फिर, वहाँ राज्य की ओर से उर्दू को चाहे जो प्रोत्साहन मिले. हिन्दुस्तानी के प्रचार की आशा तो प्राय: नहीं ही है। इस प्रकार पकिस्तान बनने से हिन्दी और उर्दू दोनों का क्षेत्र परिमित हो गया, और हिन्दुस्तानी के प्रचार को तो बहुत ही भारी आघात पहुँचा।

विशेष वक्तव्य—हमें राष्ट्र-भाषा के सवाल पर बहुत ठण्डे दिल से विचार करना चाहिए। हम चाहते हैं कि राष्ट्र भर में उसका खूब प्रचार हो, और रोजमर्रा के कामों में उसका ज्यादा से ज्यादा इस्तेमाल हो। इस लिए जरूरत पड़ने या आसान मालूम होने पर हम विदेशी शब्दों को भी लेने में संकोच न करें; हाँ, उनको इस्तेमाल इस तरह करें, जैसे वे हमारी भाषा के हों।

हमें यह बात कहने और इस पर जोर देने की जरूरत इस

लिए है कि अन्य क्षेत्रों की भाँति भाषा के विषय में भी हम में बहुत कट्टरता है। हम उर्दू वालों की शिकायत किया करते हैं परन्तु खुद अपनी कट्टरता का विचार नहीं करते। पिछले दिनों हमें लाहौर में एक सज्जन से मिलने का अवसर आया, उन्होंने अपने द्वारा संचालित बालिका विद्यालय का परिचय देते हुए गर्व से कहा कि "भाषा के सम्बन्ध में हमारी नीति स्पष्ट है। हम शुद्ध हिन्दी का व्यवहार करते हैं, हम उसमें किसी प्रकार का मिश्रण (मिलावट) सहन नहीं करते। यदि हमारे यहाँ की कोई बालिका पुस्तक को 'पुस्तक' न कह कर 'किताब' कहदे तो उसे दो चांटे लगाए जायँ।" हम यह सुन कर सोच में पड़ गए। 'पुस्तक' शब्द तो हमारा है ही, पर किताब' को भी तो हमने अपना रखा है; जैसे कि स्कूल, स्टेशन, टिकट, लालटेन, रोटी, कपड़ा आदि सहस्रों शब्द अपनाए हुए हैं। इन शब्दों को निकाल बाहर करना हिन्दी का दम घांटना है। इससे उसके राष्ट्र-भाषा बनने में अत्यन्त बाधा होगी। राष्ट्र-भाषा ऐसी नहीं रह सकती, जो दूसरे शब्दों के समावेश से दूषित हो। जाय। उसमें तो समय-समय पर आवश्यकतानुसार नए-नए शब्द लेने और उन्हें पचाने की शक्ति होनी चाहिए, जिससे उसका कोष उत्तरोत्तर बढ़ता रहे।

अगर शुद्ध हृदय से काम लिया जाय तो बोलचाल और साधारण साहित्य के लिए हिन्दुस्तानी (सरल हिन्दी या सरल उर्दू) खूब सफल होगी। खासकर गाँवों की जनता में (जो देश की कुल आबादी का नब्बे फी सदी है), साधारण ज्ञान का प्रचार करने में हिन्दुस्तानी से बहुत काम लिया जा सकता

है, और लिया जाना चाहिए। हाँ ऊँचे साहित्य की भाषा के रूप में, इसके सफल होने की आशा नहीं की जा सकती। उसके लिए हिन्दी और उर्दू जुदा-जुदा ही रहेंगी, और हिन्दुस्तानी से उसकी समस्या हल न होगी।

(२) राष्ट्र-लिपि

लिपि के बारे में कुछ विचार तीसरे परिच्छेद में किया जा चुका है। भारतवर्ष के लिए सबसे अच्छी और सबसे ज्यादा प्रचलित लिपि देवनागरी या नागरी है। इस देश के निवासियों में से फी सैकड़ा ६७ आदमी ऐसी भाषाओं का प्रयोग करते हैं, जो इसी लिपि में, लिखी जाती हैं। मदरास प्रान्त को छोड़कर भारतवर्ष की दूसरी प्रधान लिपियाँ बँगला, मराठी, गुजराती, और गुरुमुखी हैं। इनमें से मराठी तो नागरी से मिलती-जुलती ही है, और बाकी तीन लिपियों से नागरी किसी बात में कम नहीं है। जल्दी लिखने के लिए इसके अक्षरों की ऊपर की रेखा हटाई जाती है, (सिर्फ ख, ध, भ, और ण का रूप कुछ बदला जाता है)। नागरी अक्षर कितने ही प्रान्तों और देशी राज्यों में प्रचलित है। हिन्दी के अतिरिक्त कई अन्य भाषाओं का साहित्य भी कभी-कभी देवनागरी लिपि में प्रकाशित होता है।* इस तरह भारतवर्ष की राष्ट्र-लिपि बनने की सबसे अधिक योग्यता इसी लिपि में है।

---

* द्राविड़ी (और विदेशी) भाषाओं को भी इसी लिपि में लिखा जा सकता है; सिर्फ कुछ चिह्नों या निशानों की ज़रूरत होती है, जो रोमन लिपि से सहज ही लिए जा सकते हैं। छपाई की सुविधा के लिए इस लिपि के अक्षरों के स्वरूप में कुछ सुधार की ज़रूरत है, उसका विचार किया जा रहा है।

अब फ़ारसी लिपि की बात लें, जिसमें उर्दू लिखी जाती है, और जिसे आमतौर से उर्दू लिपि भी कह दिया जाता है। शुरू में इसका इस्तेमाल मुसलमान ही करते थे। खासकर मुसलमान बादशाहों के समय में कितने ही हिन्दुओं ने भी इसे अपना लिया। पीछे यहाँ अंगरेज सरकार ने इसे अदालतों में जारी करके और सिक्कों आदि पर स्थान देकर इसका महत्व और प्रचार बढ़ावा। कांग्रेस ने समझौते की भावना से इस लिपि को देवनागरी की बराबरी का पद दिया। सन् १९३७-३९ में, प्रान्तों में, जहाँ कांग्रेस सरकारें थीं, वहाँ उनके द्वारा, और दूसरी जगहों में मुसलमान या अंगरेज अधिकारियों द्वारा, इसे खूब प्रोत्साहन दिया गया। वैज्ञानिक दृष्टि से इस लिपि में बहुत दोष हैं और यह भारतवर्ष की राष्ट्र-लिपि होने के अयोग्य है, तो भी मौजूदा हालत में इसकी पूर्ण रूप से अवहेलना नहीं की जा सकती।

'हिन्दुस्तानी प्रचार सभा' देवनागरी लिपि के साथ-साथ इस लिपि के प्रचार की जो कोशिश कर रही है, उसका जिक्र पहले किया जा चुका है। आम तौर से उत्तर भारत में, हरेक आदमी के लिए दोनों लिपियाँ सीखने की बात का बहुत विरोध हुआ है।

श्री० भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के एक प्रमुख सदस्य श्री० पंडित सुन्दरलाल जी के वक्तव्यों के जवाब में लिखा था—"पंडित जी ने कहा है कि यदि दोनों भाषाओं—हिन्दी उर्दू—को एक करना है तो दोनों भाषाओं का ज्ञान होना ही चाहिए, और दोनों भाषाओं के ज्ञान के लिए दोनों लिपियों का ज्ञान अनिवार्य

है। हम यह जानना चाहते हैं कि क्या यह दोनों भाषाओं को एक करने का कार्य प्रत्येक भारतीय करेगा ? हिन्दुस्तानी कमेटी के जो सदस्य यह एक करने का कार्य करना चाहते हैं, वे तो सम्भवत: दोनों लिपियों से परिचित होंगे ही। अधिक-से-अधिक आप उत्तर भारत के सभी सार्वजनिक कार्यकर्ताओं से दोनों लिपियों में लिखी जानेवाली भाषा पढ़ सकने की आशा कर सकते हैं। किन्तु प्रत्येक भारतीय के लिए दोनों शैलियाँ और दोनों लिपियाँ सीखने की क्या आवश्यकता और क्या उपयोग ! और, यदि सभी को दोनों शैलियाँ और दोनों लिपियाँ सिखानी ही हैं तो फिर एक भाषा बनाने का प्रयत्न करने की क्या आवश्यकता और क्या उपयोग !"

रोमन लिपि—भारतवर्ष की राष्ट्र-लिपि के सम्बन्ध में रोमन लिपि की भी बात उठाई जाती है। कुछ साधारण आदमी ही नहीं, कभी-कभी तो विद्वान माने जाने वाले और नेता कहे जाने वाले आदमी भी यह सोचते हैं कि रोमन लिपि को राष्ट्र-लिपि का स्थान दे दिया जाय; इसका प्रचार योरप अमरीका आदि अंगरेजी भाषा वाले देशों में बहुत है; भारतवर्ष में यह लिपि राष्ट्र-लिपि स्वीकार हो जाने से यहाँ देवनागरी और उर्दू (फार्सी) लिपि का झगड़ा भी न रहेगा।

ये सज्जन भूल जाते हैं कि रोमन लिपि हमारे बहुत से भाइयों के लिए नई है। अदालतों की भाषा, सभ्यता की भाषा, और सरकारी पद पाने की भाषा बनी रहने, तथा इसकी शिक्षा में बेशुमार धन स्वाहा किए जाने पर भी अभी तक दस हजार पढ़े-लिखों में से केवल सवा सौ आदमी अंगरेजी भाषा जान पाए हैं, जो कि रोमन लिपि में लिखी जाती है। विदेशी होने के अलावा, इस लिपि में यह बड़ा दोष है कि इसमें लिखा कुछ जाता है और पढ़ा कुछ और जाता है। जहाँ-जहाँ यह लिपि

प्रचलित है, उन स्थानों में रोमन अक्षरों के उच्चारण समान नहीं हैं। यह ठीक है कि टर्की आदि कुछ राज्यों ने अरबी लिपि छोड़कर रोमन लिपि को स्वीकार किया है, लेकिन यह इसलिए नहीं कि रोमन लिपि सब तरह से पूर्ण या वैज्ञानिक है, बल्कि इसलिए कि यह लिपि उन राज्यों की पहले की लिपियों से कुछ अच्छी है, और छापने या टाइप करने में बहुत सुविधाजनक है। रोमन लिपि के प्रचार का कारण यह भी है कि यह उन राज्यों की लिपि है, जिनका संसार में राजनीतिक तथा आर्थिक प्रभुत्व है।

जो हो, रोमन लिपि का भारतवर्ष की राष्ट्र-लिपि होना बिलकुल अनुचित है। देवनागरी लिपि ही सबसे अच्छी लिपि है। इसके, भारतवर्ष में, उपेक्षित होने का कारण यह हुआ कि यह देश पराधीन था। अब हमने स्वाधीनता प्राप्त कर ली है। आशा है, इस लिपि के साथ यथेष्ट न्याय होगा।

दसवाँ परिच्छेद

राष्ट्रीय शिक्षा और साहित्य

हमारी शिक्षा से पराधीनता, गरीबी, बीमारियाँ, अज्ञानता और असमानता —ये पाँच चीज़ें चली जानी चाहिएँ और देहाती लोगों की आमदनी (मज़दूरी) बढ़नी चाहिए।

—किशोरीलाल मश्रूवाला

राष्ट्र के जीवन तथा उसके अस्तित्व का आधार साहित्य ही है। साहित्य में राष्ट्र के प्राण हैं। जिस अनुपात से साहित्य उन्नत होता है, उसी अनुपात से राष्ट्र भी जीवित रहता है। साहित्य का निर्माण, राष्ट्र का निर्माण है। —शुकदेवप्रसाद

(१) राष्ट्रीय शिक्षा

शिक्षा का महत्व सब जानते हैं। यहाँ हमें राष्ट्रीय शिक्षा के सम्बन्ध में विचार करना है, जिससे राष्ट्रीय समस्याओं के हल होने में महत्वपूर्ण सहायता मिलती है। उन्नीसवीं सदी के आखरी हिस्से में लोगों का ध्यान उस समय की शिक्षापद्धति के दोषों की ओर गया। यह विचार किया जाने लगा कि देश में शिक्षा ऐसी होनी चाहिए, जिससे विद्यार्थियों के हरेक कार्य और विचार में स्वावलम्बन और स्वाधीनता का भाव हो, वे अपने व्यवहार में जननी जन्मभूमि के हित का ध्यान रखें। इन विचारों के कारण यहाँ ऐसी संस्थाएँ बनाई जाने लगीं, जो सरकारी नियन्त्रण से मुक्त रहें, राष्ट्रीय भावों वाली हों, और देश की सभ्यता की रक्षा करनेवाली तथा औद्योगिक ज़रूरतों को पूरा करने वाली हों। इन संस्थाओं का कार्य प्रशंसा के योग्य होने हुए भी, इनका क्षेत्र तथा परिमाण बहुत कम रहा। हाँ, इनकी कोशिश से, यह बहुत-कुछ मालूम हो गया कि भविष्य में हमारी शिक्षा की दिशा क्या हो, क्या आदर्श रहें, और किन-किन गलतियों से बचा जाय।

बुनियादी शिक्षा और नई तालीम—सन १६३७ ई० में प्रांतों में प्रजातन्त्री सरकारों की स्थापना हो जाने पर खासकर

कांग्रेस-सरकारों ने शिक्षापद्धति में नए सिरे से परिवर्तन करने का निश्चय किया। महात्मा गाँधी की प्रेरणा से बुनियादी ('बेसिक') शिक्षा की योजना बनाई गई। इसकी खास-खास बातें ये थीं सब बालकों के लिए उनकी मातृभाषा में सात साल की मुफ्त और अनिवार्य (लाज़मी) शिक्षा का प्रबन्ध हो; शिक्षा का आधार या केन्द्र किसी प्रकार की उत्पादक दस्तकारी होनी चाहिए; शिक्षा के दूसरे विषयों (भाषा, गणित, भूगोल, इतिहास, विज्ञान और आलेख्य या ड्राइङ्ग आदि) का सम्बन्ध यथा-सम्भव उस दस्तकारी से होना चाहिए। उस दस्तकारी का चुनाव बालकों के वातावरण, और उस जगह की हालत को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए। प्रयोग के लिए कताई-बुनाई बुनियादी दस्तकारी मानी जाय और नागरिक ज्ञान ('सीविक्स') आदि समाज-शास्त्र की शिक्षा दी जाय।

ऐसी शिक्षा से हाथ और दिमाग दोनों की शक्ति का विकास साथ-साथ होता है। बालकों के मिलजुल कर काम करने से से जात-पाँत का बन्धन टूट जाता है, तथा सब के दिल में श्रम या मेहनत का आदर भी बढ़ता है। आर्थिक दृष्टि से यह लाभ है कि इस पद्धति से शिक्षा का कुछ खर्च निकल आने के अलावा लोगों की धन पैदा करने की ताकत बढ़ती है, और वे अपने खाली समय का उपयोग करने योग्य होते हैं। नागरिक ज्ञान की शिक्षा से भावी नागरिकों को इस बात का अवसर मिलता है कि वे देश की समस्याओं को, तथा अपने कर्त्तव्यों और अधिकारों को समझें और इस प्रकार सच्ची देशभक्ति का

परिचय दें तथा प्रजातन्त्री भावनाओं उपयोग करें। मातृभाषा द्वारा शिक्षा प्राप्त करने से विद्यार्थियों में विविध विषयों को भली भाँति समझने, उन पर साफ और शुद्ध विचार करने, और अपने विचार दूसरों पर बातचीत या लेख द्वारा प्रकट करने की योग्यता होती है; वे अपने राष्ट्र की भावनाओं तथा आकांक्षाओं से परिचित रहते हैं और राष्ट्र की उन्नति में अमली तौर से हिस्सा ले सकते हैं।

जगह-जगह बुनियादी शिक्षा-संस्थाएँ कायम की गईं और काम खूब जोश से होने लगा। लेकिन १६३९ में कांग्रेसी मंत्रि-मण्डलों के इस्तीफे के बाद इस ओर उपेक्षा की जाने लगी। अगस्त १६४२ के दमन से तो यह काम बहुत-कुछ रुक ही गया था। दो साल बाद इस तरफ फिर ध्यान दिया जाने लगा।

कांग्रेस की ओर से स्थापित हिन्दुस्तानी तालीमी संघ की देखभाल में पिछले वर्षों में नई तालीम के बारे में तरह-तरह के अनुसंधान और प्रयोग में किए गए। १६४४ में म० गाँधी ने देशवासियों की समग्र शिक्षा यानी पूरी तालीम का विचार प्रकट किया—सात वर्ष की उम्र से पहले की पूर्व बुनियादी शिक्षा, ७ वर्ष से १४ वर्ष तक की बुनियादी शिक्षा, चौदह वर्ष से बाद की उत्तर-बुनियादी शिक्षा, और इन तीनों के अलावा दूसरे नागरिकों के लिए प्रौढ़ शिक्षा। समग्र शिक्षा के सम्बन्ध में कई सवाल सामने हैं—७ वर्ष से कम उम्र के बच्चों में से किस-किस उम्र के बच्चों को कैसी-कैसी और किस-किस तरह शिक्षा दी जाय। ७ से १४ वर्ष तक की उम्र के बालकों की

बुनियादी शिक्षा का जो अनुभव हुआ है, उसके आधार पर अब क्या-क्या परिवर्तन किये जायँ ? १४ वर्ष तक की शिक्षा के बाद, शिक्षा का क्या स्वरूप हो ? आशा है इन विषयों पर विचार होगा और भारतवर्ष के सात लाख गाँवों की गरीबी और अज्ञान को दूर करके उन्नत और समृद्धिशाली बनाने की कोशिश की जायगी।

धार्मिक शिक्षा—भारतवर्ष में कई धर्मों और जातियों के आदमी रहते हैं। इसलिए यहाँ राज्य की ओर से किसी एक धर्म को विशेष सहायता या प्रोत्साहन मिलना या उसकी शिक्षा का इन्तजाम होना ठीक नहीं है। हाँ, धर्म के मूल सिद्धान्तों के प्रचार की व्यवस्था होनी उचित है, और मूल सिद्धान्त सब धर्मों के एक से ही होते हैं। साथ ही साथ, राष्ट्र-धर्म की भी शिक्षा दी जाने की जरूरत है। राष्ट्र-धर्म से हमारा मतलब यह है कि हम बौद्ध, जैन, हिन्दू, मुसलमान, ईसाई या पारसी किसी भी मत के माननेवाले क्यों न हों, एक जन्मभूमि या मातृभूमि की संतान होने के कारण, सब आपस में भाईचारा रखें, और देश-सेवा को अपना परम धर्म समझें।

इतिहास की शिक्षा—राष्ट्रीय शिक्षा में हरेक विषय इस विचार से पढ़ाया जाना चाहिए कि उसका राष्ट्रीय जीवन में उपयोग हो। भारतवर्ष में खासकर साम्राज्यवादी अंगरेज लेखकों ने इतिहास को ऐसा रूप दिया है कि वह साम्प्रदायिक द्वेष बढ़ाने का साधन हो गया है। उसे पढ़ कर हिन्दू विद्यार्थी तो यह अनुभव करता है कि मानो उसके सामने ही उसके धर्म पर हमला हो रहा है, और मुसलमानों में हिन्दू वीरों के गाथों को

अनादर करने की भावना पैदा नहीं होती है। यह ठीक है कि कुछ भारतीय शासकों ने समय-समय पर बड़ी भूल की, तथा अनुदारता का बर्ताव किया। पर, क्या हम सिर्फ दोषों को ही ढूँढ़ते रहें? हमारे यहाँ कितनी ही घटनाएँ ऐसी हुई हैं, जिनसे हिन्दू-मुसलमानों के आपसी प्रेम, उदारता और भाईचारे का परिचय मिलता है। जरूरत है कि हमारा इतिहास नए ढँग से, सहानुभूति रखनेवाले लेखकों द्वारा लिखाया जाय। अब भारतीय-इतिहास-परिषद् आदि संस्थाओं द्वारा यह शुभ कार्य होने लग गया है।

शिक्षा का माध्यम—खेद है कि हमारे यहाँ शिक्षा का माध्यम भी एक समस्या बना हुआ है। अंगरेजों ने अपने शासन में यहाँ विदेशी भाषा अंगरेजी को बेहद महत्व दिया। अनेक स्थानों में प्रायः चौथी कक्षा से ही अंगरेजी की पढ़ाई अनिवार्य कर दी और उसे ही माध्यमिक और उच्चशिक्षा का माध्यम बना दिया। यह स्थिति सर्वथा अस्वाभाविक थी। बहुत आन्दोलन करने पर माध्यमिक शिक्षा भारतीय भाषाओं द्वारा दी जाने लगी, और उच्च परीक्षाओं में भारतवर्ष की प्रमुख प्रान्तीय भाषाओं को भी स्थान दिया जाने लगा। परन्तु इतने समय की पराधीनता ने हमारे बहुत से शिक्षितों को अंगरेजी भाषा का बहुत ही अभ्यस्त, प्रशंसक और समर्थक बना दिया है। उन्हें इसका बेढब मोह हो गया है। वे अपने निजी व्यवहार में अंगरेजी का उपयोग करने में बड़ा गौरव अनुभव करते हैं, और शिक्षा के सम्बन्ध में भाषा के प्रश्न पर राष्ट्रीय दृष्टि से विचार करने के अयोग्य या असमर्थ हो गए हैं।

उच्च शिक्षा का प्रश्न—यह एक मुख्य कारण है कि उच्च शिक्षा के माध्यम का विषय बहुत विवादग्रस्त बना हुआ है। अखिल भारतीय शिक्षा-सम्मेलन ने वाइस-चांसलरों तथा कुछ विशेषज्ञों की जो समिति इस विषय का विचार करने के लिए नियुक्त की थी, उसने पांच वर्ष के लिए अंगरेजी को ही कायम रखने का निश्चय किया। साथ ही, उसका मत है कि पाँच वर्ष बाद जब अंगरेजी हटे तो उसका स्थान कोई एक राष्ट्र-भाषा नहीं, बल्कि अपने-अपने क्षेत्र की प्रान्तीय भाषाएँ लें। इसका अर्थ यह है कि भारतीय संघ में उच्च शिक्षा के लिए एकता-सूचक कोई एक भाषा न रहे। समिति की समझ में ऐसी कोई भाषा है ही नहीं, जिसे सब लोग सर्वसम्मति से राष्ट्र-भाषा के रूप में स्वीकार करने के लिए तैयार हों। दुर्भाग्य का विषय है कि हमारे ये दिग्गज विद्वान यह निर्णय नहीं दे सके कि राष्ट्र-भाषा के रूप में हिन्दी ही अंगरेजी को उसके पद से हटा सकती है। हिन्दी में राष्ट्र-भाषा बनने की कितनी क्षमता है, यह हम पहले बता आए हैं। उच्च शिक्षा का माध्यम हिन्दी हो जाने पर यहाँ विविध प्रान्तों के विद्वानों में विचारों का आदान-प्रदान कितनी सरलता से होगा, और वे एक दूसरे के निकट आकर यहाँ राष्ट्रीयता की भावना को कितना बढ़ादेंगे, यह स्पष्ट ही है।

पारिभाषिक शब्दों की बात—हिन्दी को उच्च शिक्षा का माध्यम बनाने में हमारे अंगरेजी-प्रेमियों को सबसे बड़ी बाधा पारिभाषिक शब्दों की प्रतीत होती है। हम यह स्वीकार करते हैं कि विविध वैज्ञानिक विषयों के पारिभाषिक शब्दों की हमें बड़ी आवश्यकता है। परन्तु इसकी पूर्ति का उपाय यही है कि

यह निश्चय कर दिया जाय कि अब से दो वर्ष में उच्च शिक्षा का माध्यम हिन्दी होगी। प्रत्येक विषय की उच्च परीक्षाओं के लिए पाठ्यक्रम निर्धारित कर दिया जाय, जिससे विद्वान लेखक यथेष्ट साहित्य तैयार करने लगें। पारिभाषिक शब्दों के विचार के लिए योग्य विद्वानों की समितियाँ संगठित की जायँ। कुछ व्यक्तियों तथा संस्थाओं ने इस दिशा में कुछ कार्य किया है। इसका कुछ परिचय हमारी 'हिन्दी में अर्थशास्त्र और राजनीति साहित्य' पुस्तक में दिया गया है। हमने अपनी परिमित-साधनों के अनुसार 'अर्थशास्त्र शब्दावली' और 'राजनीति शब्दावली' प्रकाशित की है।

कोष-निर्माताओं से निवेदन—अभी कुछ समय हमारे वैज्ञानिक कोषों का अपूर्ण होना स्वाभाविक ही है। तथापि इन प्रयत्नों का अपना महत्व है। यहाँ हम कोष बनानेवालों के विचारार्थ कुछ निवेदन करना है। पहली बात संस्कृत भाषा के उपयोग की है। हिन्दी में दर्शन, ज्योतिष, वैद्यक, नीति और धर्म आदि विषयों का पुराना साहित्य बहुत है, और उसमें पारिभाषिक शब्द संस्कृत के आधार पर हैं। विज्ञान आदि गम्भीर विषयों के लिए नवीन शब्दों की आवश्यकता होने पर उन्हें संस्कृत से बनाया जाता रहा है, तथा भविष्य में ऐसा ही होना स्वाभाविक है। ऐसा करने से हिन्दी भाषा भारतवर्ष की पुरानी सांस्कृतिक विशेषताओं के अनुकूल तथा यहाँ की विविध प्रान्तीय भाषाओं के निकट रह सकती है।

परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि हम हिन्दी की पारिभाषिक शब्दावली को, अनावश्यक होने पर भी, संस्कृत-निष्ठ,

बनावें। हमें व्यर्थ ऐसा प्रयत्न न करना चाहिए कि हमारा हर एक पारिभाषिक शब्द ठेठ संस्कृत से ही निकला हुआ हो। यदि हम ऐसा करेंगे तो हम अन्ततः अपनी भाषा के सब से बड़े शत्रु प्रमाणित होंगे। साम्प्रदायिक कट्टरता की भाँति भाषा सम्बन्धी कट्टरता भी बहुत घातक होती है। अगर हम हिन्दी भाषा से उन सभी शब्दों को निकाल बाहर करें, जो पिछली कई सदियों में हमने धीरे-धीरे पचाए और अपनाए हैं तो हिन्दी भाषा में क्या रह जायगा! वह राष्ट्र-भाषा तो क्या एक साधारण अच्छी भाषा भी न रह पाएगी। निदान, हमें अपनी पारिभाषिक शब्दावली से अन्य भारतीय भाषाओं के तथा अरबी, फारसी, अंगरेजी आदि विदेशी भाषाओं के प्रचलित या सरल शब्दों का बहिष्कार नहीं करना चाहिए। आवश्यकतानुसार दूसरी भाषाओं से भी शब्द लेना और उन्हें अपनाते रहना ही किसी भाषा के जीवन का लक्षण है। किसी जाति की तरह किसी भाषा का भी पूर्णतया शुद्ध बने रहने का अभिमान असत्य, भ्रममूलक और विनाशकारी है।

× × ×

घरों में शिक्षा—बालकों की शिक्षा सबसे पहले घरों में होती है, और उनकी पहली अध्यापिका माताएँ ही होती हैं। बालकों के भविष्य की नींव माताएँ ही डालती हैं। यह उन्हीं पर निर्भर है कि बालकों के आदर्श कितने ऊँचे होंगे, और उनमें स्वावलम्बन और देशभक्ति आदि गुणों का विकास कहाँ तक होगा। इसलिए यह जरूरी है कि खुद स्त्रियों के विचार बहुत ऊँचे हों। उनकी शिक्षा का काफी इन्तजाम होना चाहिए। माता

पिता को चाहिए कि अपनी सन्तान को बचपन से ही देशभक्ति और उदारता की मनोहर कथा-कहानियां सुनावें जिससे उनके कोमल हृदयों पर अच्छा और स्थायी प्रभाव पड़े।

प्रौढ़ शिक्षा – इसी प्रकार उन प्रौढ़ यानी बड़ी उम्र वाले स्त्री पुरुषों की राष्ट्रीय तथा राजनीतिक शिक्षा का इन्तजाम करने की आवश्यकता है, जो किसी संस्था में बाकायदा नही पढ़ सकते। उनके लिए सभाएँ और समाचारपत्र आदि बहुत सहायक होते हैं। जगह-जगह रात्रि-पाठशालाएँ, पुस्तकालय और वाचनालय खोले जाने चाहिएँ। इसके अलावा हरेक राष्ट्र-प्रेमी का कर्तव्य है कि अपने हल्के में वह जिन मित्रों, पड़ो-सियों, सम्बन्धियों तथा गांव और नगरवालों से मिले, उनसे बातचीत और विचार-विनिमय करके उन्हें देश की हालत और जरूरतें समझावे।

म० गाँधी के शब्दों में "प्रौढ़ शिक्षा ऐसी होनी चाहिए, जो स्त्री पुरुषों को हर तरह बेहतर नागरिक बनाए।···किताबें होंगी पर वे विद्यार्थी के बजाय शिक्षकों के काम की अधिक होंगी। हमें बहुमत को यह सिखाना होगा कि वे अल्पमत वालों के साथ कैसा बर्ताव करें और यही अल्पमत वालों को भी सिखाना होगा। ठीक ढङ्ग की प्रौढ़ शिक्षा लोगों को पड़ोसियों का भाई-चारा सिखाएगी और इस तरह अस्पृश्यता और साम्प्रदायिक समस्या की जड़ पर ही कुठाराघात करेगी।···हमें गाँव वालों को सहकारिता की भी शिक्षा देनी है।···हमें उनको स्त्री पुरुषों के बीच उचित सम्बन्ध की भी शिक्षा देनी है। एकसे काम के लिए पुरुषों को स्त्रियों से दुगुनी मजूरी मिलती है, कभी-कभी

पुरुष आराम से बैठ कर चिलम पीते हैं, जबकि स्त्रियों को सारा दिन काम करना पड़ता है! लोगों को सिखाना चाहिए कि यह अन्याय है, और यह खत्म होना चाहिए।"

इससे साफ जाहिर है कि शिक्षा का कार्य कितना व्यापक है; उससे हमारी सभी राष्ट्रीय कमजोरियों और कमियों के दूर होने में मदद मिलनी चाहिए।

(२) राष्ट्रीय साहित्य

साहित्य और भारतीय राष्ट्र—साहित्य और राष्ट्र का गहरा संबंध है। जहाँ साहित्य अच्छा है, वहाँ राष्ट्र भी बलवान है; और, जहाँ साहित्य गिरी हुई हालत में है, वहाँ राष्ट्र भी लड़खड़ाता हुआ तथा कमजोर है। जिस तरह प्राण निकल जाने से शरीर मुर्दा हो जाता है, उसी तरह साहित्य के नाश होने पर राष्ट्र भी जिन्दा नहीं रह सकता। भारतवर्ष की बात लीजिए। जब यहाँ संस्कृत साहित्य का प्रबल प्रवाह था तथा वेदों और उपनिषदों का डंका बज रहा था, तब यहाँ के महात्मा और ऋषी जगद्गुरु थे, राजा चक्रवर्ती थे, देश धन धान्य से भरा था। पीछे साहित्य का उलट-फेर हुआ तो राष्ट्र में भी उथल-पुथल हो चली; आपसी कलह और विलासिता ने घर कर लिया। तुलसी, कबीर, नानक आदि महात्माओं के अच्छे ग्रन्थों ने, नवजीवन का संचार किया, तो यहाँ बहुत से भक्त हुए। वीर रस के साहित्य के प्रभाव से हमने विविध संकटों को झेलते हुए भी अपने आपको बनाए रखा। हाँ, फारिस की कविता के आधार पर यहाँ बाजारी लड़के लड़कियों की प्रेम-रस की

गजलों ने जोर पकड़ा तो लैला-मजनू, शीरीं-फरहाद, गुलबकावली और चन्द्रकाँता आदि का नवयुवकों पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। उसे देखकर आज भी हृदय कांपता है। 'फूल खिलने भी न पाया कि कली ही कुम्हला गई' की कहावत पूरी होती है। अंगरेजों से सम्बन्ध होने पर हमने मिल, स्पेंसर और बर्क आदि लेखकों का साहित्य देखा तो आजादी के भावों को उत्तेजना मिली और विज्ञान की ओर हमारी रुचि बढ़ी। परन्तु अंगरेजी साहित्य से हममें कुछ दूषण भी आ गए हमारा अपना भेष नहीं रहा, अपनी भाषा न रही और विचार-स्वतन्त्रता न रही। अंगरेजों की देखा देखी फेशन का भूत हमारे सिर पर सवार हो गया ; और. कितने ही आदमी अपने रहनसहन में नाममात्र को हिन्दुस्तानी रह गए।

दूसरे राष्ट्रों के उत्थान-पतन में साहित्य का प्रभाव—दूसरे देशों के उत्थान-पतन या चढ़ाव-उतार में भी वहाँ के साहित्य का बड़ा हिस्सा रहा है। रूस. इटली फ्रांस, जर्मनी. इगलैंड आदि देशों के इतिहास पढ़िए; मालूम हो जायगा कि जितनी उन्नति इन के साहित्य में होती गई, उतना ही ये फलते-फूलते गए। एशिया में जापान के सम्बन्ध में भी ठीक ऐसा ही है। इसी प्रकार जब तक यूनान, मिस्र, फारिस, आदि देशों के निवासी साहित्य की ओर से सावधान रहे, ये संसार में शिरोमणि बने रहे। जब से इनके साहित्य को धक्का लगा, उसमें मैल भरने लगा और उसकी तरक्की रुक गई तब से इन देशों का कुछ मान ही न रहा। कुछ देशों का हाल में उद्धार हुआ है तो नए रूप में, और नए साहित्य के बल पर।

दूसरे देशों में, आयर्लैंड की मिसाल बहुत विचार करने योग्य है। इंगलैंड ने वहाँ का साहित्य नष्ट कर अपने साहित्य का प्रचार किया, इससे वहाँ के निवासी अपनी संस्कृति गँवा कर इंगलैंड की नकल करने में अभिमान करने लगे थे। पराधीनता के समय में आयर्लैंड ने क्या-क्या कष्ट न सहे! अन्त में कुछ दूरदर्शी नेताओं ने अपनी मातृभूमि के उद्धार का बीड़ा उठाया। उन्होंने इस कार्य में अपनी मातृभाषा गैलिक' तथा राष्ट्रीय साहित्य के प्रचार को प्रमुख स्थान दिया। घर-घर में इनका प्रचार किया गया। इससे वहाँ मातृभूमि के लिए बलिदान होने-वालों का सिलसिला बंध गया। वीर मेक्स्विनी ने ७६ दिन तक उपवास या अनशन करके अपने प्राण खुशी-खुशी देश के लिए न्योछावर कर दिए। उसने कहा था कि 'मैं उस साहित्य का पुजारी हूँ जिसने मुझे सच्चे रास्ते पर चलना सिखाया है!' राष्ट्रीय साहित्य के ऐसे ही पुजारियों ने आयर्लैण्ड को आजाद किया है।

राष्ट्र-निर्माण में साहित्यसेवियों का स्थान—जिस तरह किसी विशाल भवन को बनाने के लिए बहुत से आदमियों की जरूरत होती है; और कई तरह का सामान जुटाना पड़ता है, उसी तरह राष्ट्र-निर्माण में भी कई बातें जरूरी होती हैं, जैसे एकता, सहनशक्ति, वीरता, धैर्य, बुद्धि आदि। लेकिन मकान बनाने का सब सामान तब ही काम देता है, जब वह किसी चतुर मिस्त्री की देख-रेख में ठीक जगह लगाया जाय। इसी प्रकार राष्ट्रीयता के साधन भी तभी लाभदायक होते हैं, जब कोइ इनके इस्तेमाल की विधि बताने वाला हो; और यह

काम चतुर साहित्यसेवियों और योग्य सम्पादकों का है, वे हमें अपनी पुस्तकों तथा लेखों से हमारा कर्त्तव्य तथा उसको पालन करने की विधि बतला सकते हैं। जिस तरह कोई चतुर वैद्य हीन-से-हीन रोगी को चंगा कर सकता है, वैसे ही चतुर साहित्य-सेवी गिरे हुए राष्ट्र को उठा सकता है; देश में हलचल मचा सकता है, जनता को रुचि बदल सकता है। इस प्रकार राष्ट्र-निर्माण में साहित्यसेवियों का वही स्थान है, जो घातक बीमारी में चतुर वैद्य का, विशाल भवन-निर्माण में होशियार मिस्त्री का, तथा राज्य-शासन में योग्य नीतिकारों का।

हमारे देश में सच्चे साहित्यसेवियों की कमी है। कितने ही लेखक या कवि कहलानेवाले अपनी लेखनी का उपयोग सिर्फ धन कमाने में समझते हैं। जिस 'साहित्य' के अधिक से अधिक ग्राहक मिलने की सम्भावना होती है, उसकी ही रचना करने के लिए ये तैयार रहते हैं, चाहे उससे समाज या राष्ट्र कितनी ही रसातल को जाय। ये लोग अपनी खुदगर्जी से ऐसा काम करते हैं, जिससे नवयुवकों में निर्भीकता, साहस, कष्ट-सहन के भावों का उदय न होकर उनमें विलासिता, और बदचलनी बढ़ती है। हमारी साफ राय है कि साहित्य के नाम पर आज-दिन जो पुस्तकें छप रही हैं, उनका खासा हिस्सा नष्ट कर दिए जाने योग्य होता है।

साहित्य किस ढंग का होना चाहिए?—इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जो पुस्तक लिखी जाय, उसमें देश-काल का विचार जरूर रखा जाय। भारत की हालत में पहले से बहुत फरक हो गया है; अब यहाँ पर एक ही जाति अथवा

एक ही धर्म नहीं है। हिन्दू हैं, मुसलमान हैं, ईसाई और पारसी आदि हैं; इन सब को ध्यान में रख कर हमें भारतीय राष्ट्र बनाना है; किसी खास जाति या धर्मवालोंका नहीं। यह तभी हो सकता है, जब हमारा साहित्य मेल बढ़ानेवाला हो, वाद-विवाद मिटानेवाला हो तथा ऐसे विषयों से भरा हुआ हो, जो सारे देश के लिए लाभदायक हों। लेखक को चाहिए कि ऐसे ही ग्रन्थों की रचना करे, जिनसे शिल्प और विज्ञान की उन्नति हो, दस्तकारी, कल-कारखाने और व्यापार बढ़े; खेती, पशुपालन तथा पशु-रक्षा का आदि ज्ञान हो।

हमारी पुस्तकें पाठकों को ऊँचे आदर्श पर ले जानेवाली हों, जिनसे राष्ट्र-धर्म, अर्थशास्त्र, विज्ञान तथा राजनीति की, और अच्छे व्यवहार की शिक्षा मिले, जो उन्हें उदार देशभक्ति के रंग में रंगे, जिनको पढ़कर वे नेकचलन बनें, त्याग के मर्म को जानें और दूसरों के अधिकारों की रक्षा करना अपना धर्म समझें। सार बात यह है कि ग्रन्थ ऐसे होने चाहिएँ, जिनके पढ़ने से हम अपने देश की यथेष्ट उन्नति करते हुए अपनी राष्ट्रीय समस्याओं को हल करने में सफल हों।

स्वाधीनता-संग्राम का इतिहास—राष्ट्रीय साहित्य में इतिहास का विषय विशेष विचारणीय होता है। भारतीय इतिहास की रचना के विषय में किन-किन बातों को ध्यान में रखा जाना चाहिए, यह पहले लिखा जा चुका है। यहाँ स्वाधीनता-संग्राम के इतिहास के बारे में कुछ विशेष कहना है। इस विषय के जो ग्रन्थ अब तक लिखे गए हैं, उनमें क्रान्तिकारियों

की प्रायः कुछ चर्चा नहीं की गई, और जनता को आन्दोलन का यथेष्ट श्रेय नहीं दिया गया। यही नहीं, जैसा कि 'भारत में सशस्त्रक्रान्ति चेष्टा का रोमांचकारी इतिहास' तथा 'भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास' के सुप्रसिद्ध लेखक श्री० मन्मथनाथ गुप्त ने लिखा है, हम अपने कुछ समय पहले के सच्चे नेताओं को भी भूलते जा रहे हैं। हम केवल आज़ाद, भगतसिंह, रामप्रसाद बिस्मिल, अशफाकुल्ला को ही नहीं भूल रहे हैं, हम लोकमान्य तिलक, पंडित मोतीलाल नेहरू, देशबन्धु दास आदि को भी भूलते जा रहे हैं। स्वतंत्रता-संग्राम में नाना साहब, राममोहन, दयानन्द, खुदीराम, गोखले, तिलक, गांधी, जवाहरलाल, पटेल, अजमल खां, भगतसिंह, जयप्रकाश, अशफाकुल्ला सभी का हाथ था; किसी का कम, किसी का अधिक। और, इन सबसे अधिक भाग रहा जनता का, जिसने इन्हें पैदा किया तथा इनके विचारों को शक्ति बनादी। अब जो इतिहास लिखा जाय, उसमें इस बात का यथेष्ट ध्यान रखा जाना चाहिए।

ग्यारहवां परिच्छेद
प्रान्तीयता

प्रान्तीयता की शरण लेकर हम अपना ही ह्रास करेंगे। राष्ट्र-निर्माण के इस पवित्र अवसर पर हमें माला के पुष्पों की भाँति एक सूत्र में ग्रथित हो जाना चाहिए। —'जय हिन्द'

हरेक राष्ट्र के लिए राजनीतिक एकता का होना जरूरी है। भारतवर्ष की एकता की एक बाधा साम्प्रदायिकता के बारे में

पहले लिखा जा चुका है, यहाँ दूसरी बाधा—प्रान्तीयता—के बारे में विचार करते हैं। प्रान्तीयता की भावना प्राकृतिक है। आदमी के विकास की एक ऐसी अवस्था होती है, जब उसका विचार-क्षेत्र और सहानुभूति गाँव, नगर और जिले से आगे बढ़ती है, परन्तु राष्ट्र तक नही पहुँचती। यह बीच की अवस्था प्रान्तीयता है।

प्रांतों का रचना—वर्तमान प्रान्तों की स्थिति और स्वरूप पर विचार करने से यह स्पष्ट है कि इनकी रचना किसी खास सिद्धान्त पर नहीं हुई है। शासकों ने अपनी सुविधा के अनुसार भारतवर्ष को विविध प्रान्तों में बाँट दिया; कभी कोई प्रान्त या उसका कुछ हिस्सा दूसरे में मिला दिया, कभी किसी का क्षेत्र कुछ कम कर दिया। ईस्ट इंडिया कम्पनी के प्रारम्भ-काल में प्रान्त बहुत छोटे-छोटे थे; पीछे उसके राज्य का विस्तार बढ़ने पर प्रान्तों का आकार बढ़ता गया। सन् १८५७ तक अधिकांश भारत पर प्रत्यक्ष, या परोक्ष रूप से (राजाओं के द्वारा) अंगरेजों का शासन स्थापित हो गया। तो भी भौगोलिक स्थिति, जनता या उसकी भाषा आदि का विचार करके प्रान्तों की सीमा निर्धारित करने का कार्य नहीं किया गया। उदाहरण के तौर पर लार्ड कर्जन के समय में बंगाल, बिहार और उड़ीसा—ये तीन प्रान्त एक ही प्रान्त के अंग माने जाते थे। समय-समय पर कुछ परिवर्तन होते रहने पर भी प्रायः प्रान्तों की रचना अस्वाभाविक ही रही।

पुनर्निमाण की माँग; मुख्य कारण—धीरे-धीरे भाषा या संस्कृति आदि के आधार पर प्रान्तों के बँटवारे या नए प्रान्तों

के निर्माण की माँग होती गई। खासकर पिछले तीस वर्ष से यह माँग बढ़ती रही है। इसकी पृष्ठ-भूमि में विशेषतया शिक्षित वर्ग का आर्थिक स्वार्थ है। अंगरेजी शिक्षा का मुख्य उद्देश्य मनुष्यों को सरकारी नौकरी के योग्य बनाना था। इस शिक्षा को सब से पहले और सब से अधिक बंगाल ने अपनाया। मदरास में भी इसका खूब प्रचार हुआ। जगह जगह इन्हीं प्रान्तों के आदमी अध्यापक, वकील और डाक्टर आदि अधिक संख्या में होने लगे। क्रमशः अन्य प्रान्तों में इसका विरोध हुआ प्रान्तीय पब्लिक सर्विस कमीशनों के बनने पर उन्होंने ऐसा नियम बनाया कि किसी प्रान्त में नौकरी पाने के लिए आदमी को उसी प्रान्त का निवासी होना चाहिए। इससे एक प्रान्त में दूसरे प्रान्त वाले उम्मेदवारों के लिए नौकरी का दरवाज़ा बहुत-कुछ बन्द हो गया। इस प्रकार प्रान्तीयता का आन्दोलन मुख्य रूप में मध्यवर्ग का आन्दोलन है। प्रथम योरपीय महायुद्ध के बाद सन् १९२० में संसार के दूसरे अनेक देशों की तरह भारतवर्ष में भी आर्थिक संकट उपस्थित हुआ। लोगों के आर्थिक स्वार्थ टकराए। उन्होंने भाषा आदि के आधार पर प्रान्तों की रचना की माँग की। प्रान्तीय स्वराज्य की बात के साथ, और खासकर १९३५ के शासन विधान से लोगों में प्रान्तीयता की भावना बहुत बढ़ी है।

प्रान्तीयता की भावना—थोड़ी बहुत प्रान्तीयता तो सभी प्रान्तों के निवासियों में है; पर किसी-किसी प्रान्त में यह संकीर्ण भावना बहुत ही हानिकारक सीमा तक पहुँची हुई है। उदाहरण के तौर पर बंगाल की बात लीजिए। हम उन महाशयों की महत्वपूर्ण

सेवाओं का यथेष्ट आदर करते हैं, जिन्होंने अनेक कष्ट और असुविधाएँ सहन करके भी अपने आचार-व्यवहार, तथा भाषण और लेखों से राष्ट्रीय भावो के प्रचार में खूब योग दिया है, तथापि यह सर्वविदित है कि कितनेही बंगाली नेताओं या विद्वानों ने अपने बुद्धिबल के सामने दूसरे प्रान्त वालों को निम्न श्रेणी का समझा। वे प्रायः हिन्दी की उपेक्षा करते रहे। यहाँ तक कि राष्ट्र-भाषा का प्रश्न उपस्थित होने पर कितने ही ऐसे बंगाली सज्जनों ने भी इस पद के लिए बगला भाषा की वकालत की, जिनके प्रति भारतीय जनता को बड़ी श्रद्धा थी, जो अखिल भारतीय ख्याति के थे, और जिनसे बहुत निष्पक्ष होने की आशा थी।

इसी तरह हम देखते हैं कि मद्रास में वर्षों से हिन्दी-प्रचार का कार्य होने पर भी कितने ही प्रमुख मद्रासी नेता अभी तक अंगरेजी में व्याख्यान देते हैं, और जब जनता इस का बहुत विरोध करती है तो वे बड़ी अटपटी हिन्दी बोला करते हैं। अब भारतवर्ष के स्वतन्त्र हो जाने पर तो यह बहुत ही खटकता है; यह बन्द होना चाहिए।

प्रान्तों का आपसी संघर्ष—राष्ट्रीयता का विकास अच्छी तरह न होने के कारण, यहाँ जगह-जगह आदमी प्रान्तीयता के भावों में फँसे पाए जाते हैं। इसलिए कहीं बंगाली-बिहारी समस्या है, कहीं बङ्गाली-मारवाड़ी, कहीं महाराष्ट्री-हिन्दुस्तानी, और, कहीं तामिल-तेलगू आदि। इन सब समस्याओं को हल करने के लिए जरूरी है कि हमारे भाई इस बात को अच्छी तरह समझलें कि राष्ट्रीय एकता बढ़ाने के

लिए संकुचित प्रान्तीय भावना हटा दी जानी चाहिए। प्रान्त की उन्नति में भरसक योग देना उचित और उपयोगी है, लेकिन प्रान्तीय प्रश्नों पर विचार करते हुए हम कभी राष्ट्रीय दृष्टिकोण की अवहेलना न करें। जो आदमी अपने प्रान्त से जुदा किसी दूसरे प्रान्त में रहते हों, उनका कर्त्तव्य है कि वे उस प्रान्त की भाषा सीखें, वहाँ की संस्कृति और संस्थाओं का आदर करें, वहाँ के आदमियों से मिलजुल कर रहें, स्नेह और सद्भावना से उस प्रान्त के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक हित के कार्यों में योग दें। उस प्रान्त के निवासियों का भी फर्ज है कि वे दूसरे प्रान्त से वहाँ आकर बसे हुए आदमियों से किसी तरह का द्वेष भाव न रखें; वे इस बात को न भूलें कि ये दूसरे प्रान्त वाले भी उसी भारतीय राष्ट्र के हैं, जिसके हम हैं, और जिसका हित हम सब चाहते हैं।

एक उदाहरण; बंगाली-बिहारी समस्या—इस विषय पर कुछ अधिक प्रकाश डालने के लिए बिहार की मिसाल पर विचार करना उचित होगा। पहले यह प्रान्त बङ्गाल का हिस्सा था। उस समय शिक्षा आदि में बिहारी बहुत पिछड़े रहे; उन्हें सरकारी पद या नौकरियाँ भी कम मिली। बिहार के अलग प्रान्त बन जाने पर उन्होंने धीरे धीरे शिक्षा आदि में उन्नति की, और वे अपने प्रान्त में काफी सरकारी नौकरियाँ पाने लगे। इससे, वहाँ आकर बसे हुए बंगालियों के स्वार्थ में बाधा पहुँचने लगी। बस, बंगाली बिहारी समस्या पैदा हो गइ। कांग्रेस के शासन-काल (१६३७-३६) में, उसकी कार्य-समिति ने मान्यवर श्री० राजेन्द्रप्रसाद जी को इस विषय की जाँच करने के लिए

नियुक्त किया और उनकी रिपोर्ट पर विचार करके एक प्रस्ताव मंजूर किया, उसकी खास-खास बातें ये हैं :—

(१) भारत को एक मजबूत स्वतन्त्र राष्ट्र बनाने के लिए यह आवश्यक है कि अलहदगी और संकुचित प्रांतीयता की प्रवृत्तियों को दबाया जाय, पर साथ ही नौकरियों तथा इस तरह के दूसरे विषयों में प्रान्त के आदमियों की माँग की उपेक्षा नहीं की जा सकती। (२) ऊँची नौकरियों का बँटवारा करते समय देश के दूसरे भागों के योग्य उम्मेदवारों के लिए रुकावट न रखी जाय लेकिन (क) प्रान्त के जुदा-जुदा सम्प्रदायों को काफी प्रतिनिधित्व जरूर मिलना चाहिए। (ख) पिछड़े हुए निवासियों का उत्साह अधिक से अधिक बढ़ाया जाय, जिससे वे राष्ट्र के कार्यों में पूरा हिस्सा ले सकें। (ग) तरजीह देने का फैसला प्रान्तीय सरकारों के निश्चित नियमों के अनुसार हो, जिससे पक्षपात न किया जा सके। (३) जहाँ तक बिहार का सम्बन्ध है; बिहारियों और इस प्रांत में पैदा हुए बंगलाभाषियों तथा 'डोमिसाइल्ड' (बसे हुए) बंगालियों में भेद-भाव न रखा जाय। नौकरियों तथा दूसरे मामलों में इनके साथ समान व्यवहार किया जाना चाहिए। (४) बसे हुए होने का सबूत इस बात से मिलेगा कि उम्मेदवार ने इस प्रांत को अपना घर बना लिया है या नहीं; वह कितने दिन प्रांत में रह चुका है, प्रांत में उसका मकान या और तरह की जायदाद है या नहीं। इस प्रांत में जन्म होना या लगातार दस साल रहना 'डोमिसाइल्ड' साबित करने के लिए काफी है। (५) प्रांत में व्यवसाय-व्यापार करने के लिए किसी पर रोक न रहे। जरूरत है कि कारखाने पड़ोस के लोगों को नौकरी देकर उनसे सम्बन्ध बढ़ावें। (६) जब प्रांत की शिक्षा-संस्थाओं में स्थान सीमित हों तो अलग-अलग सम्प्रदाय वालों के हिस्से सुरक्षित रखे जायँ; हाँ ांत के लोगों को तरजीह दी जा सकती है। (७) बिहार के उन हल्कों में जहाँ बंगला ज्यादा बोली जाती है, प्राइमरी स्कूलों में बंगला भाषा से शिक्षा दी जाय; यहाँ हिन्दी भाषा-भाषियों की संख्या काफी होने पर हिन्दुस्तानी पढ़ाने का भी इन्तजाम हो। इस तरह जहाँ बहुमत गैर-बंगालियों

का हो, वहाँ हिन्दुस्तानी के साथ बंगला पढ़ाने का भी प्रबन्ध हो। ऊँची कक्षाओं की पढ़ाई हिन्दुस्तानी के जरिये हो। लेकिन बङ्गला की पढ़ाई का भी इन्तजाम हो। स्थानीय जनता की माँग के मुताबिक उसकी भाषा की पढ़ाई का प्रबन्ध होना चाहिए।

समिति ने यह सलाह दी कि दूसरे प्रांतों में भी, इन नियमों को ध्यान में रख कर, कार्य किया जाय। कहना नहीं होगा कि समिति ने गम्भीरता से काम लिया। उसने प्रांत-हित के साथ राष्ट्र हित का मेल बैठाया; प्रांत-निवासियों के अधिकार सुरक्षित रखते हुए भी बाहर वालों के लिए कोई असुविधाजनक बातें नहीं कीं। आशा है दूसरे प्रांतवाले भी ऐसा ही विचार रखेंगे, और समिति का निर्णय उन्हें उचित रास्ता सुझाएगा।

अब हम उन बातों का विचार करते हैं, जिनके आधार पर नए प्रान्तों के नर्माण की बात उठाई जाती है।

भाषा की बात—खासकर मद्रास, बम्बई और मध्यप्रान्त का विभाजन भाषा के आधार पर करने की माँग बहुत समय से है। दक्षिण भारत में चार भाषाओं के बोलनेवाले अलग-अलग काफी संख्या में हैं, और हरेक भाषा के बोलनेवाले एक विस्तृत भू-भागों पर फैले हुए हैं। इस दृष्टि से मद्रास प्रान्त के चार भाग किए जायँ—आन्ध्र, तामिलनाड, केरल और कर्नाटक। बम्बई प्रान्त की मुख्य भाषाएँ मराठी और गुजराती हैं, और इन दोनों के बोलनेवालों के दो अलग-अलग प्रात—महाराष्ट्र और गुजरात—बनाए जायँ; ये कुछ अंश में इस समय हैं भी। मध्यप्रान्त और बरार प्रान्त को महाकौशल और विदर्भ प्रान्तों में विभक्त करने की माँग है।

इस तरह की मांग देखकर कांग्रेस ने भाषा के आधार पर प्रान्तों के पुनर्निमाण की बात मान्य कर रखी है। यद्यपि भाषा के आधार पर प्रान्तों का निर्माण हो जाने से शासन कार्य में कुछ सुविधा होती है, प्रान्तों की सीमा निर्धारित करने में सामाजिक, आर्थिक, भौगोलिक आदि अन्य बातें भी कम महत्व की नहीं होतीं। फिर, राष्ट्रीय दृष्टि से तो विभिन्न भाषा भाषियों के थोड़े-बहुत मिश्रित प्रान्त होना अधिक उपयोगी है, जिससे भाषाएँ कुछ मिश्रित हो जायँ, और पृथक्ता की भावना दूर हो कर राष्ट्रीयता-वृद्धि में सहायता मिले।

संस्कृति का विचार—कुछ आदमी प्रान्तों की रचना उनकी पृथक् पृथक् संस्कृति के आधार पर, करने की बात कहा करते हैं। परन्तु बंगाली संस्कृति, बिहारी संस्कृति, महाराष्ट्र संस्कृति आदि में प्रान्तीय रीति रस्म के सिवाय और क्या अन्तर है! और, ज्यों ज्यों आमदरफ्त बढ़ती जाती है, यह अन्तर घटना स्वाभाविक है। प्रान्तों की रचना में इस अन्तर को बढ़ने का अवसर न मिलना चाहिए। वास्तव में विविध प्रान्तों की संस्कृतियों में कोई मौलिक मतभेद नहीं है, और हमें तो भारतीय संस्कृति के विकास में सहायक होना चाहिए।

इस विषय में हमें संयुक्त-राज्य अमरीका से शिक्षा लेनी चाहिए। वहाँ योरप के विविध देशों के आदमी रहते हैं, फिर भी वह खूब संगठित और शक्तिशाली राज्य है; उसके सब आदमी अपने आप को अमरीकी कहने में गौरव अनुभव करते हैं।

साम्प्रदायिकता—प्रान्तों की पुनर्रचना की मांग में लोगों

की साम्प्रदायिक भावना ने बहुत काम किया है। यहाँ तक कि यह देश के विभाजन का मुख्य कारण है। पाकिस्तान राज्य बन जाने से पञ्जाब के दो भाग हो गए हैं; वैसे भाषाएं यहाँ मुख्य रूप से तीन बोली जाती हैं—हिन्दी, पञ्जाबी, और लंहडी। बंगाल को भी पंजाब की तरह साम्प्रदायिक आधार पर ही पूर्वी बंगाल और पश्चिमी बंगाल में बाँट दिया गया है। अन्यथा इसके विभाजन की कोई आवश्यकता न थी। बंगला भाषा सारे बंगाल में व्यापक रूप से बोली और पढ़ी जाती है; और बंगाल के सब हिन्दुओं और मुसलमानों की यही भाषा है। इस समय भी बंगाल के दोनों भागों में राजभाषा बंगला ही रहेगी। वास्तव में कुछ धार्मिक मतभेदों को छोड़ कर सारे बंगाल के हिन्दू और मुसलमानों की भाषा, संस्कृति, कला, वेश-भूषा और सामाजिक विचार एकसे हैं। और, कुछ क्षेत्रों में यह आशा बनी हो है कि थोड़े-बहुत समय में बंगाल फिर संयुक्त होकर रहेगा।

नेतागिरी की चाह—बहुत से आदमी प्रान्त-रचना के अन्दोलन का समर्थन तो भाषा या संस्कृति आदि के नाम पर करते हैं, पर असल में इस के मूल में उनकी निजी महत्वाकांक्षा होती है। वे नेतागिरी के भूखे होते हैं। उन्हें यह आशंका रहती है कि बड़े प्रान्त में उनकी विशेष मान-प्रतिष्ठा न होगी; यदि छोटे-छोटे प्रान्त बनें तो उन्हें कोई ऊँचा पद मिलने की सम्भावना अधिक होगी। इसलिए वे नए प्रान्तों की रचना का आन्दोलन किया करते है। राष्ट्र-हितैषियों को इस विषय में बहुत सतर्क रहने की आवश्यकता है।

वर्तमान परिस्थिति—इस समय जो लोग नए प्रान्तों की रचना या प्रान्तों के पुनर्निमाण का आन्दोलन चला रहे हैं, वे प्रायः वर्तमान परिस्थिति का यथेष्ट विचार नहीं करते। सोचना चाहिए कि देश के दो भाग हो जानेसे और पाकिस्तान के अधिकारियों के दुर्व्यवहार से भारतीय संघ को इस समय बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है। दूसरे रचनात्मक कामों की कम जरूरत नहीं। क्या ऐसे अवसर पर प्रान्तों के पुनर्निमाण की जल्दी करना उचित है? इस समय तो हमें वर्तमान सरकार को अधिक-से-अधिक मजबूत बनाना है, और प्राप्त स्वतन्त्रता की रक्षा करनी है। प्रान्तों की पुनर्रचना हमारा घरू प्रश्न है। कुछ अवकाश और सुविधा मिलने पर हम इसे पीछे शान्तिपूर्वक हल कर लेंगे।

विधान-सभा ने एक कमेटी भाषा के आधार पर प्रान्तों की रचना की जाने के विषय पर विचार करने के लिए नियुक्त की है। आशा है, वह इस सम्बन्ध में गम्भीरता से काम लेगी, और राष्ट्रीयता को किसी प्रकार धक्का न पहुँचने देगी।

ध्यान देने की बात—भाषा, संस्कृति, सामाजिक आचार-विचार और आर्थिक कारणों से बहुत आवश्यक होने पर किसी प्रान्त का विभाजन होना अनुचित नहीं है। पर यह कार्य सद्भावना-पूर्वक होना चाहिए। इस बात की आवश्यकता स्पष्ट है कि किसी प्रान्त के आदमी अपने प्रान्त की उन्नति का विचार करते समय राष्ट्र-हित को अपनी आँखों से ओझल न होने दें। उन्हें देश की तत्कालीन परिस्थिति का यथेष्ट ध्यान रखना चाहिए। फिर, एक स्वतन्त्र प्रान्त को गवर्नर, मंत्रिमंडल,

हाई कोर्ट, व्यवस्थापक सभा, विश्वविद्यालय आदि—सभी की ज़रूरत होती है। ये सब कार्य व्यय साध्य हैं। आवश्यकता है कि नए प्रान्तों के बनाने के साथ शासन-व्यय का परिमाण बेहद न बढ़ने दिया जाय, मितव्ययिता से काम किया जाय, सरकारी आय अधिकतर राष्ट्र-निर्माण के कार्यों में लगाई जाय, जिससे जनता की आर्थिक और नैतिक दशा में सुधार हो।

अन्तर्प्रान्तीय सहानुभूति और सहयोग—मौजूदा हालत में आमतौर से एक प्रान्त के आदमी प्रायः दूसरे प्रान्त-वालों के दोष निकालते रहते हैं। अकसर आदमी यह कहते पाए जाते हैं कि उस प्रान्त के आदमी बड़े बुद्धू होते हैं, उस प्रान्तवाले बड़े कंजूस या झगड़ालू हैं, उस प्रान्तवालों में घमण्ड बहुत है, इत्यादि। ये बातें हमारा ओछापन जाहिर करती हैं। जब तक ऐसा वातावरण रहेगा, हम पूरे राष्ट्र का निर्माण कैसे कर सकते हैं! आवश्यकता है कि हम एक-दूसरे के भावों और विचारों को समझने की कोशिश करें। इस समय तो राष्ट्रीयता का दम भरनेवाले बन्धुओं में भी ऐसे कम ही हैं, जो दो से ज्यादा प्रान्तों की भाषाएँ जानते हों; तथा जिन्हें ऐसे खान-पान और रहनसहन का अभ्यास हो कि दूसरे प्रान्तों में जाकर उन्हें कुछ असुविधा तथा अनोखापन मालूम न होता हो। अकसर हमें दूसरे प्रान्तों के साहित्य का ज्ञान प्राप्त करने के लिए अंगरेजी लेखकों का आसरा लेना पड़ता है।

जरूरत है कि हरेक प्रान्त अपनी भाषा, संस्कृति और साहित्य आदि की उन्नति करता हुआ कम-से-कम अपने नजदीक के प्रान्तों की अच्छी-अच्छी बातें लेता रहे; आदमी आपस में

मिलने और विचार-विनिमय करने के, और एक दूसरे का रहन-सहन तथा भाषा और व्यवहार आदि जानने के मौके निकालें। हम देश के किसी भाग में चले जायँ, हमें वहाँ की भिन्नता न खटके, हम वहाँ के निवासियों से भलीभाँति हिलमिल सकें और उनके सुख-दुःख में हिस्सा ले सकें। प्राचीन काल में, इस देश में तीर्थ-यात्रा से राष्ट्रीयता के भावों के प्रचार में बड़ी मदद मिलती थी। उसका रूप बदल जाने से अब उससे वैसा फायदा नहीं होता। आजकल आदमी रेल आदि से हजारों मील की यात्रा जल्दी ही तय कर लेते हैं, उन्हें रास्ते की जगहों के निवासियों के जीवन रहन सहन और विचारों का कुछ अनुभव नहीं होता। तीर्थ-यात्रा से उनकी सिर्फ धार्मिक भावना पूरी हो जाती है, लेकिन राष्ट्रीय दृष्टि से उसका विशेष उपयोग नहीं।

कुछ वर्ष हुए श्री० देवदास जी गांधी ने मद्रास हिन्दी-प्रचार-सभा के द्वारा एक ज्ञान-यात्री-दल की योजना करके सर्वसाधारण के सामने बहुत अच्छा उदाहरण रखा था। जरूरत है कि हरेक प्रान्त में ऐसे दलों का संगठन हो, जो सारे देश में घूमें! वे अलग-अलग प्रान्तों के दो-दो तीन-तीन शहरों के अलावा कई-कई गाँवों में भी ठहरें; लोगों के रहनसहन और विचारों का आदान-प्रदान करें। इस दल में ऐसे सज्जन रहें, जो राष्ट्र-भाषा हिन्दी जानते हों अथवा यात्रा शुरू करने से पहले उसे सीखलें। इनके द्वारा अन्तर्प्रान्तीय सहयोग और राष्ट्रीयता के बढ़ने में अच्छी मदद मिलेगी।

बारहवाँ परिच्छेद

देशी राज्य

देशी राज्यों के अलग हो जाने पर भारत एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में जीवित रहने की आशा नहीं कर सकता था। वह किसी भी समय विदेशी आक्रमण का शिकार होकर पुनः गुलामी में जकड़ लिया जाता।

— 'नवजीवन'

भारतीय नेताओं को बहुत समय से यह चिन्ता रही है कि भारतवर्ष को एक राष्ट्र बनाना है तो यहाँ सैकड़ों देशी राज्यों का होना कैसे सहन किया जा सकता है, जिनमें ज्यादातर स्वेच्छाचारी या अनुत्तरदायी शासन है, और राष्ट्रीय मामलों में लापरवाही की जाती है! स्वराज्य-प्राप्त और लोकतंत्री शासन वाले भारत में कुछ व्यक्तियों के निजी राज्य जैसी इकाइयों का होना राष्ट्र-निर्माण की दृष्टि से बेमेल था।

देशी राज्यों का, शासन की इकाइयों की दृष्टि से, विचार—राजा-महाराजाओ के कुशासन और दुर्व्यवहार के कारण प्रायः शिक्षित मत इनके बने रहने के विरुद्ध ही रहा है। तथापि कुछ ऐतिहासिक तथा सामाजिक कारणों से इन्हें समाप्त करने का निश्चय नहीं किया गया। पर यह भी सर्वमान्य नहीं रहा कि छोटे बड़े सभी देशी राज्य बने रहें। सन् १९३८ में अ० भा० देशी राज्य लोक-परिषद ने यह प्रस्ताव पास किया था कि

बीस लाख से कम आबादी, और पचास लाख रुपए से कम सालाना आमदनी वाले राज्यों को पास के प्रान्तों के साथ मिला देना चाहिए, या उन्हें आपस में मिलाकर एक बड़ी इकाई बनाई जानी चाहिए। इस प्रस्ताव के अनुसार इक्कीस ही राज्य इस योग्य थे कि बने रहें।

सन् १९४६ में लोक परिषद् ने उक्त प्रस्ताव में संशोधन कर के सिर्फ ऐसी ही रियासतों के अस्तित्व का समर्थन किया, जो लोक-कल्याण के आधुनिक आर्थिक मान को कायम रख सकें, जो प्रगतिशील और उत्तरदायी शासन चला सकें। पीछे परिषद् की स्थायी समिति ने इस विषय पर यह मत प्रकट किया कि साधारणतया भारतीय संघ की इकाई होने के लिए ऐसी ही रियासतें ठीक रहेंगी, जिनकी आबादी लगभग ५० लाख और आय लगभग तीन करोड़ रुपए हो। दूसरी रियासतें न तो उत्तरदायी शासन की आवश्यकताओं के लिए आर्थिक साधन जुटा सकती हैं और न जनता की सामाजिक या सांस्कृतिक उन्नति के सम्बन्ध में ही अपना कर्तव्य पूरा कर सकती हैं; उन्हें उनके पास के प्रान्त में ही मिला देना ठीक है।

नई ब्रिटिश योजना—अंगरेज़ों ने अपने स्वार्थ या सुविधा के विचार से समय-समय पर देशी राज्यों से जैसा-चाहा, व्यवहार किया। आखिर, ३ जून १९४७ की ब्रिटिश योजना ने उन के लिए तीन मार्ग छोड़ दिए—(१) वे भारतीय संघ में शामिल हों, (२) पाकिस्तान में शामिल हों, या (३) १५ अगस्त को ब्रिटिश सत्ता का अन्त होने पर वे स्वतन्त्र हो जायँ। हाँ, वायसराय ने

स्वयं देशी राज्यों पर रहेगा, हम भारतवर्ष की सार्वभौम सत्ता भारतीयों के हाथ में दे रहे हैं, देशी राज्यों को भारतीय सरकारों से बात करनी चाहिए। सम्राट् की सरकार और राजाओं के बीच किसी प्रत्यक्ष समझौते या संधि की बात न हो सकेगी। राजाओं की सहायता के लिए ब्रिटिश सेनाएँ नहीं रहेंगी।' इस प्रकार राजाओं के लिए उपयुक्त तीन रास्तों में से आखरी रास्ता कुछ बन्द सा हो गया।

राजाओं की 'स्वतंत्रता'—कुछ रियासतों के शासकों ने देखा कि ब्रिटिश योजना में, यह नहीं कहा गया कि राजा लोग जिस प्रकार अब तक ब्रिटिश सरकार की सार्वभौम सत्ता मानते थे, अब भारतीय संघ अथवा पाकिस्तान की सार्वभौम सत्ता मान्य करें। इस लिए जब कि अन्य राज्य धीरे-धीरे भारतीय संघ या पाकिस्तान में मिलते गए, कुछ शासक अपनी 'स्वतंत्रता' का स्वप्न देखने लगे, और वे उसे चरितार्थ करने के लिए कूटनीतिक उपाय काम में लाए। इस सम्बन्ध में नवाब भोपाल का रुख बहुत क्षोभजनक रहा। उनके प्रभाव में आकर इन्दौर महाराज भी कुछ समय बहुत डांवाडोल रहे। त्रावणकोर में प्रधान मंत्री सी० पी० रामास्वामी ने भी 'स्वतंत्रता' की बात उठाई। पर पीछे कश्मीर, जूनागढ़ और हैदराबाद को छोड़ कर भारतीय संघ के क्षेत्र के सब राज्य भारतीय संघ में शामिल हो गए; उन्होंने रक्षा, वैदेशिक मामले, और यातायात का विषय भारत-सरकार को सौंप दिया। रियासती समस्या पर अधिक प्रकाश डालने के लिए उपयुक्त तीन रियासतों के बारे में आगे कुछ खुलासा लिखा जाता है।

कश्मीर—कश्मीर की भौगोलिक स्थिति बड़े महत्त्व की है। इसकी सीमा कई दूसरे राष्ट्रों के अलावा भारतीय सङ्घ और पाकिस्तान दोनों ही राज्यों से मिलती है। यहाँ के महाराजा ने इसे स्वतन्त्र रखने का विचार किया। वे यह निर्णय नहीं कर सके कि यदि यह राज्य भारतीय संघ या पाकिस्तान में मिले तो किसमें मिले। इधर, पाकिस्तान ने इसे अपने में मिलाने के लिए ज़ोर जबरदस्ती करना शुरू कर दिया। उसने यथा-पूर्व समझौते को भंग करके कश्मीर में आवश्यक वस्तुएँ बाहर से आना बन्द कर दिया, और सीमा-प्रान्त के रास्ते आधुनिक शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित अफरीदी कबाइलियों के हमले होने दिए और उन्हें मोटर, पेट्रोल ही नहीं, सैनिकों आदि की भी सहायता दी। इस पर कश्मीर को अस्थायी रूप से ※ भारतीय सङ्घ में मिलाने तथा शेख अब्दुल्ला के नेतृत्व में वहाँ अस्थायी राष्ट्रीय सरकार बनाने का निश्चय किया गया।

शेख अब्दुल्ला की माँग पर भारतीय सङ्घ ने कश्मीर की रक्षा में सहायता पहुँचाने के लिए अपनी सेनाएँ भेजी। इसके पहले आक्रमणकारी काफी तैयारी करके कश्मीर में बहुत भीतर आ घुसे थे, और, जैसा कि पाकिस्तान-सरकार ने पीछे स्वीकार किया, इन आक्रमणकारियों में स्वयं पाकिस्तान की फौजें भी शामिल रहीं। भारतीय सेनाओं तथा सैनिक सामान को कश्मीर पहुँचाने में सड़कों की कमी से बड़ी-बड़ी बाधा थी, वह क्रमशः दूर की गई और कश्मीर को यथा-सम्भव सहायता

※ स्थायी रूप से निश्चय, शान्ति स्थापित होने के बाद, किया

पहुँचाई गई। कश्मीर का मामला संयुक्त राष्ट्र संघ में भेजा गया था, परन्तु इंगलैंड और अमरीका आदि का रुख पाकिस्तान के प्रति पक्षपात का सा रहने के कारण उसने उचित निर्णयात्मक कार्रवाई न की। इधर, कुछ-कुछ पाकिस्तान के इशारे पर हैदराबाद ने भी भारतीय संघ के प्रति विरोध भाव रखा, और भारत-सरकार का ध्यान उधर बँटा रहा। अब हैदराबाद का समस्या हल हो गई है, आशा है, कश्मीर का मामला अधिक समय तक नहीं अटका रहेगा। वह शीघ्र भारतीय संघ का एक सुन्दर और सबल इकाई बनेगा।

जूनागढ़—जूनागढ़ काठियावाड़ की एक छोटी सी रियासत है। इसकी अधिकाँश आबादी हिन्दुओं की है, और यह चारों ओर हिन्दू बहुमत वाली रियासतों से घिरी हुई है। भौगोलिक स्थिति तथा जनता की इच्छा के अनुसार इसे भारतीय संघ में शामिल होना चाहिए था, पर कुछ साम्प्रदायिक और स्वार्थी नेताओं के प्रभाव में आकर यहाँ के मुसलिम नवाब ने इसे पाकिस्तान में मिला दिया। इसका जनता ने विरोध किया। आसपास की रियासतों में भी हलचल मच गई। जूनागढ़ की जनता ने अपनी अस्थायी सरकार कायम की और भारतीय संघ की सहानुभूति प्राप्त की। इस प्रकार नवाब और जनता की सेनाओं का संघर्ष हुआ, जिसमें अन्तिम विजय जनता की रही। पीछे जन-मत लिए जाने पर ९८ प्रतिशत जनता ने भारतीय संघ में सम्मिलित होने के पक्ष में मत दिया, और जूनागढ़ को भारतीय संघ में मिला लिया गया।

हैदराबाद—अब हैदराबाद की बात लीजिए। यह बड़ी

रियासत है। इसकी आबादी १ करोड़ ६२ लाख है, जिसमें से ८२ प्रतिशत तो हिन्दू ही है। भौगोलिक दृष्टि से यह भारतीय संघ में मिल जानी चाहिए थी। परन्तु यहाँ के मुसलिम शासक निजाम साहब अपने प्रतिक्रियावाद और सम्भवतः पाकिस्तानी नेताओं की गुप्त मंत्रणा के कारण, तथा रियासत के अपने सजातीय अल्पसंख्यकों की संस्था 'इत्तिहादुल मुसलमीन' से प्रभावित होकर किसी-न-किसी बहाने से भारतीय संघ में शामिल होने (तथा वास्तविक शासन-सुधार करने) के सवाल को टालते रहे। इस बीच में वे हथियारों का संग्रह और फौजी ताकत बढ़ाने का भी काम करते रहे, जिससे रियासत की असंतुष्ट जनता का अच्छी तरह दमन किया जा सके, और यदि भारतीय संघ जनता का पक्ष ले तो उसका भी कुछ मुकाबिला हो सके।

हैदराबाद राज्य में रजाकारों के सैनिक संगठन ने धीरे-धीरे बेहद जोर पकड़ लिया। उनके अत्याचारों से समस्त रियासती जनता पर आतंक छागया। उन्होंने सीमा पर के भारतीय संघ के हजारों निवासियों की लूट, मार, और बेइज्जती करके तथा उनके मकान और सामान जलाकर अपनी क्रूरता और नृशंसता का परिचय दिया। इसके अलावा उन्होंने भारतीय संघ के धर्मान्ध मुसलमानों को तरह-तरह के उत्पात करने के लिए प्रेरणा और प्रोत्साहन दिया। भारत-सरकार ने उनके विरुद्ध निजाम को चेतावनी दी, पर कुछ नतीजा न निकला। उनका नेता कासिम रिजवी दिल्ली के लाल किले पर इसलामी झंडा

निजाम को अपने हाथ की कठपुतली बनाकर उसे भारत-सरकार से समझौता करने तथा भारतीय संघ में मिलने से रोकता रहा। यद्यपि हैदराबाद स्वतन्त्र राज्य नहीं था, निजाम ने रिज़वी आदि के प्रभाव में आकर भारत के विरुद्ध संयुक्त राष्ट्र-संघ की सुरक्षा-समिति में दावा कर दिया। इधर रजाकारों के अत्याचार बराबर बढ़ते रहने पर अन्त में भारत-सरकार को हैदराबाद में अपनी फौजें भेजकर शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित करना आवश्यक हो गया। सितम्बर १९४८ में सिकन्दराबाद के लिए सेना रवाना हुई; और केवल पाँच दिन में राजाकारों की पराजय हो गई। कासिम रिजवी और हैदराबाद के मंत्रिमंडल को कैद कर लिया गया और निजाम ने आत्म-समर्पण कर दिया। अब हैदराबाद में शान्ति स्थापित हो रही है और वह शीघ्र भारतीय संघ में मिल जायगा।

हैदराबाद का भावी शासन वहाँ स्थापित की जाने वाली विधान सभा के द्वारा निश्चय किया जायगा। कुछ लोगों का सुझाव है कि हैदराबाद के मराठी, तेलगू तथा कन्नड भाषा-भाषी क्षेत्र महाराष्ट्र, आन्ध्र तथा कर्नाटक प्रान्तों में बाँट दिए जायँ. और सिकन्दराबाद से युक्त हैदराबाद शहर का निर्माण एक कमिश्नर के प्रान्त के रूप में किया जाय और निजाम को उस प्रान्त का वैधानिक प्रधान बनाया जाय। बहुत से लोगों की इच्छा है कि निजाम की जगह अब उनका पुत्र 'बरार का युवराज' ले, जो उदार विचारों का है।

रियासतों के सम्बन्ध में भारतीय संघ और पाकिस्तान की नीति—भारतीय संघ की सरकार ने यह स्पष्ट कर

दिया है कि उसमें किसी रियासत के मिलने का निर्णय करने के लिए दो बातों का विचार रखा जाना चाहिए—उस रियासत की भौगोलिक स्थिति, और वहाँ की जनता का इस विषय सम्बन्धी मत। इसके विरुद्ध पाकिस्तान ने इन बातों की तरफ ध्यान न देकर जैसे-भी-बने रियासतों को अपने अन्दर मिलाने की कोशिश की; यहाँ तक कि वह जोर-जबरदस्ती करने से भी नहीं चूका।

भारतीय संघ और पाकिस्तान की रियासती नीति में दूसरा अन्तर यह है कि भारतीय संघ चाहता रहा कि रियासतों में उत्तरदायी शासन हो, राजा केवल वैधानिक शासक रहे; सब राजकाज लोक-प्रतिनिधियों के मतानुसार किया जाय। इसके विपरीत, पाकिस्तान के अधिकारियों ने वह घोषणा की थी कि हम रियासतों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करेंगे। कई राजा पाकिस्तान के दिए हुए इस प्रलोभन में फँस गए। वे भारतीय संघ में शामिल होने के प्रश्न को टालते रहे; पर आखिर में इस श्रेणी में सिर्फ कश्मीर और हैदराबाद ही रह गए; और, जूनागढ़ ने गलत निर्णय किया। इनमें से भी कश्मीर में परिस्थितियों के दबाव ने इस प्रश्न को हल कर दिया; वह भारतीय संघ में शामिल हो गया। निजाम हैदराबाद और नवाब जूनागढ़ ने संघर्ष मोल लिया। अन्त में इन्हें भी जनता-जनार्दन के निर्णय के आगे झुकना पड़ा।

रियासतें और राष्ट्रीय एकता—ऊपर देशी रियासतों के भारतीय संघ में प्रवेश करने की बात कही गई है, पर राष्ट्रीय एकता का प्रश्न हल करने के लिए यही काफी नहीं था। जरूरत

थी कि रियासतों की शासनपद्धति को उत्तरदायी और लोकतन्त्रात्मक बनाकर सारे भारतवर्ष को समान वैधानिक स्तर पर लाया जाय। रियासती जनता बहुत समय से उत्तर-दायी शासन के लिए आन्दोलन कर रही थी।* १५ अगस्त १९४७ को अंगरेजों के भारत छोड़ने पर रियासतों में जन-आन्दोलन ने और भी जोर पकड़ा। भारत-सरकार की इससे सहानुभूति होना स्वाभाविक ही था, पर उसकी यह नीति भी नहीं थी कि राजाओं की सत्ता समाप्त कर दी जाय। उसका लक्ष्य यह रहा कि रियासतों में उत्तरदायी शासन स्थापित होने के साथ आवश्यकतानुसार राजाओं का अस्तित्व और निजी अधिकार बने रहें।

रियासतों में प्रजातन्त्री शासन स्थापित करने में सबसे बड़ी बाधा यह थी कि रियासतों की संख्या दस-बीस नहीं, लगभग छः सौ थी, अधिकांश रियासतें तो मामूली गाँव सरीखी थीं, बहुत सी रियासतों का क्षेत्रफल, जनसंख्या और आय अच्छे शासन की सुविधा के दृष्टि से काफी नहीं थी। इस का विचार करके स्वतंत्र भारत-सरकार ने रियासतों को प्रान्तों में मिलाने, या उनके संघ बनाने आदि की योजना हाथ में ली। इस विषय में रियासती कार्यकर्ताओं तथा राजाओं से मिलकर समझौते का रास्ता निकालने और योजना को अमल में लाने में रियासती विभाग के अध्यक्ष सरदार पटेल ने अद्भुत कौशल का परिचय दिया।

---

* इस विषय का विस्तारपूर्वक विवेचन हमारी 'देशी राज्यों की की जन-जागृति' में किया गया है।

उड़ीसा की २३, मध्यप्रान्त बरार की १५, बिहार की २, मदरास की २, पूर्वी पंजाब की ३, और बम्बई की १७४ रियासतें—कुल मिला कर २१६ रियासतें उनके पास के प्रान्तों में मिला दी गईं। इनका क्षेत्रफल क्षेत्रफल ८४,७७४ वर्गमील, आबादी १२० लाख, और वार्षिक आय ५४१ लाख रु० थी।

हिमालय प्रदेश की २१ रियासतों तथा कच्छ को केन्द्र द्वारा शासित किया जाने लगा है। इनका क्षेत्रफल १६०६१ वर्गमील, आबादी १४ लाख, और वार्षिक आय १६४ लाख रु० थी थी। जैसलमेर की रक्षात्मक सुरक्षा के लिए वहाँ एक शासक नियुक्त कर दिया गया है।

२६१ रियासतो के छः स्वावलम्बी संघ बनाए गए हैं— सौराष्ट्र संघ में ११७, मत्स्य में ४, विन्ध्यप्रदेश में ३५, राजस्थान संघ में १०, मध्य भारत में २०, पटियाला और पूर्वी पंजाब संघ में ८ रियासतें हैं। इन सबका क्षेत्रफल १,५०,४०० वर्गमील, आबादी २३८ लाख, और वार्षिक आय २८१६ लाख रु० है।

इस समय अलग-अलग रहनेवाली बड़ी-बड़ी रियासतें ये हैं — कश्मीर, हैदराबाद, मयूरभंज, कोचीन, बड़ौदा, मैसूर, भोपाल, कोल्हापुर, त्रावणकोर, जयपुर, जोधपुर, और बीकानेर। कुछ थोड़ी सी छोटी-छोटी रियासतों को अभी इस प्रकार मिलाना बाकी है कि भौगोलिक स्थिति, भाषा, शासन संस्कृति और आर्थिक दृष्टि से उपयुक्त हो। इनका शीघ्र ही निपटारा हो जायगा।

महान सफलता—इस प्रकार देशी राज्यों की स्थिति में पिछले बारह महीनों में विलक्षण क्रान्ति हो गई है। किसी को सहज ही यह कल्पना नहीं होती थी, कि इतने थोड़े से समय में यह जटिल समस्या इस सीमा तक हल हो जायगी। अंगरेजों ने इसे जटिल बनाए रखा था। यहाँ से जाते समय भी उन्होंने इसे उलझे हुए ही छोड़ा। जिस सार्वभौम सत्ता के वे दावेदार

बने रहे थे, उसे उन्होंने भारत की उत्तराधिकारी सरकार को नहीं सौंपा। उन्होंने राजाओं के लिए अपनी स्वतन्त्रता घोषित करने का रास्ता खुला छोड़कर उनके निहित स्वार्थों को उकसाया। इस प्रकार सैकड़ों रियासतों वाला भारत नई स्वतन्त्र सरकार के लिए एक भयंकर चुनौती था। पर भारतीय कर्णधारों ने अपनी चतुराई, धैर्य और दूरदर्शिता से काम लिया और अद्भुत सफलता प्राप्त कर दिखाई।

जिन रियासतों का शासन केन्द्रीय सरकार द्वारा होने लगा है, तथा जो रियासतें अपने नज़दीक के प्रान्त में मिल गई हैं, उनकी जनता को प्रान्तों की जनता के समान राजनीतिक अधिकार और स्वतन्त्रता सहज ही मिल जायगी। शेष रियासती इकाइयों का शासन, विधान उनकी निर्वाचित विधान-सभाओं द्वारा बनाए जाने की योजना यथा-सम्भव शीघ्र अमल में आएगी। बीच के समय के लिए अन्तरिक लोकप्रिय सरकारें स्थापित कर दी गई हैं। इस प्रकार देशी राज्यों को शेष भारत की वैधानिक स्तर पर लाने का प्रयत्न किया जा रहा है। राजाओं का निजी खर्च निश्चित कर दिया है, और उनकी मान मर्यादा और उत्तराधिकार को गारंटी दी गई है।

विशेष वक्तव्य—लगभग छः सौ देशी राज्यों की जगह अब केवल छः रियासती संघ और एक दर्जन बड़ी तथा कुछ छोटी रियासतें रह गई हैं। इनमें भी कुछ परिवर्तन होने की सम्भावना है। किसी रियासती संघ में सम्मिलित होने वाली रियासतों के राजाओं में से एक को उस संघ का राजप्रमुख और एक या अधिक को उप-राजप्रमुख नियुक्त कर दिया गया

है तथा लोकप्रिय मंत्रिमंडल स्थापित कर दिए गए हैं। बड़ी रियासतों में राजा और उसका उत्तरदायी मंत्रिमंडलल है। इस प्रकार अभी राजतन्त्र बना हुआ है, चाहे वह पहले की अपेक्षा कितने ही परिमित रूप में क्यों न हो। राजा, राजप्रमुख और उप-राजप्रमुख मौजूद हैं, प्रजा प्रमुख और उप-प्रजाप्रमुखों को सत्ता नहीं सौंपी गई है।

रियासतों या रियासती संघों का अस्तित्व कब तक रहेगा, यह तो स्वयं राजाओं के व्यवहार पर निर्भर है। सम्भव है कालान्तर में राज्य बिलकुल न रहें, और राजा बीते हुए युग की कहानी के पात्र रह जायँ। हमें इस विषय की बहस में न पड़ कर यही कहना है कि अभी तो देश के कुछ हिस्सों में राजतन्त्र बना है; हमें ऐसा प्रयत्न करने रहना चाहिए कि देशी राज्यों से भारतीय राष्ट्र के निर्माण और उत्थान में बाधा कम-से-कम हो, और इनके द्वारा इस कार्य में सहायता अधिक-से-अधिक मिले।

तेरहवाँ परिच्छेद
पाकिस्तान

कल्पना ने मूर्त स्वरूप धारण कर लिया—बहुत समय पहले नहीं, अपने निर्माण से छः महीने पहले तक पाकिस्तान सिर्फ एक कल्पना की चीज थी, और राजनीतिक विषयों में दिलचस्पी रखनेवाले इस विषय पर वादविवाद किया करते थे कि इसके बनने की क्या सम्भावना है। कुछ साम्प्रदायिक

मुसलमानों को छोड़ कर शेष सभी विचारक इसे हानिकारक मानते थे। लार्ड वेवल ने कहा था कि भारतवर्ष का भूगोल नहीं बदला जा सकता। १६ मई १६४६ की ब्रिटिश मंत्रिमिशन की योजना में इसे अव्यावहारिक ठहराया गया था। म० गांधी और जवाहरलाल नेहरू आदि कांग्रेस-नेता अन्त तक इसका विरोध करते रहे। पर अफसोस! आखिर, पाकिस्तान बन ही गया, भले ही वह आकार-प्रकार में पूरे तौर से वैसा न बना हो, जैसा साम्प्रदायिक मुसलिम नेता चाहते थे।

मुसलिम लोग और ब्रिटिश साम्राज्यवाद—पाकिस्तान बनने का रहस्य समझने के लिए मुसलिम लीग के जीवन पर एक नजर डालना जरूरी है। यह छिपा नहीं है कि अंगरेजों ने अपना शासन दृढ़ करने के लिए भारतवासियों में, खासकर हिन्दू-मुसलमानों में, भेद-भाव बढ़ाया। सन् १६०५ में बंगाल के दो टुकड़े करने का उद्देश्य यह भी था कि बंगाल के नए प्रांत में मुसलमानों का हिन्दुओं से मेल कम रहे, और 'पूर्वी बंगाल, और आसाम' में मुसलमानों का बहुमत हो। अंगरेज अधिकारियों की मेहरबानी या रियायतों से लाभ उठाने के लिए १६०६ में साम्प्रदायिक मुसलमानों ने 'मुसलिम लीग' नाम की एक अलग संस्था बनाई, उसने बंग-भंग की सराहना की। सन् १६०६ के शासन-सुधारों में सरकार द्वारा मुसलमानों के लिए अलग चुनाव का सिद्धान्त मान लिए जाने पर लीग ने साम्प्रदायिकता का खुलकर प्रचार किया। सन् १६१३ में लीग के मुख्य उद्देश्य ये थे—मुसलमानों में ब्रिटिश साम्राज्य की वफादारी के विचारों का प्रचार, मुसलमानों के राजनीतिक अधिकारों

की रक्षा, और इंगलैंड की अधीनता में स्वराज्य प्राप्त करना। समय-समय पर लीग की नीति में परिवर्तन हुआ; उसने कभी कभी कांग्रेस का साथ भी दिया। परन्तु प्रायः उसमें नवाबों और तालुकेदारी आदि का ही प्रभुत्व रहा, और वह मुसलमानों के विशेष अधिकारों के लिए ब्रिटिश सरकार का आसरा ताकती रही। ब्रिटिश सरकार भी उसकी आड़ में भारतवर्ष की फूट का राग अलापते हुए यहाँ की जनता को कुछ वास्तविक सत्ता देने से बचती रही। इस प्रकार मुसलिम लीग ने भारतवर्ष में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के एक स्तम्भ का काम किया।

मुख्य ध्येय, पाकिस्तान—सन् १९३५ के विधान के अनुसार होनेवाले चुनावों में, और पीछे संयुक्त मंत्रिमंडलों के बनाने में, सफल न होने पर लीग ने यह झूठा प्रचार करना शुरू किया कि कांग्रेसी सरकार वाले प्रांतों में मुसलमानों पर बहुत ज्यादतियाँ हुई हैं। १९३९ में कांग्रेस-मंत्रिमंडलों ने इस्तीफे दिये तो लीग ने 'मुक्ति दिवस' मनाया। इस वर्ष से श्री० जिन्ना प्रजातन्त्र शासन का विरोध करने लग गए। वे यह कहने लगे कि भारतवर्ष में दो राष्ट्र हैं—हिन्दू राष्ट्र और मुसलिम राष्ट्र; इनके लिए अलग-अलग राज्य कायम किए जाने चाहिएँ। मुसलमानों के लिए पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत, बिलोचिस्तान पंजाब और सिंध में, तथा बंगाल और आसाम में मुसलिम राज्य हो; इसे 'पाकिस्तान' कहा जाय, और शेष भारत में (मुसलिम राज्यों को छोड़कर) हिन्दू राज्य हो। सन् १९४० में लाहौर के अधिवेशन में लीग का मुख्य ध्येय पाकिस्तान ठहराया गया।

आत्म-निर्णय का सिद्धान्त—पाकिस्तान के सम्बन्ध में आत्म-निर्णय या स्वभाग्य-निर्णय के सिद्धान्त की दुहाई दी गई, जो पिछले योरपीय महायुद्ध के समय से विशेष रूप से जनता के सामने आया है। इस सिद्धान्त का आशय यह है कि प्रत्येक देश को अपनी इच्छानुसार अपना शासन करने का अधिकार होना चाहिए, कोई दूसरा राष्ट्र उस पर, उसकी इच्छा के विरुद्ध शासन न करे। पाकिस्तान के समर्थक यह भूल गए कि यह सिद्धान्त पूरे देश के लिए ही ठीक है, उसके जुदा-जुदा हिस्सों (प्रांतों या ज़िलों), जातियों या सम्प्रदायों के लिए इस को अमल में लाना अनुचित और खतरनाक है। भारतवर्ष में इसने सिक्खस्तान और अछूतस्तान आदि की कल्पना को जन्म दिया। यह सिद्धांत मानने से केन्द्रीय सत्ता बहुत कमजोर होती है और भारतवर्ष एक मज़बूत राष्ट्र नहीं रह सकता।

'दो-राष्ट्रों' की बात—सितम्बर १९४४ में म० गांधी और श्री० जिन्ना में इस विषय पर बातचीत और उसके साथ ही पत्र-व्यवहार हुआ था। महात्मा जी की राय थी कि अगर हिन्दुस्तान और पाकिस्तान का बँटवारा हो तो वह दो भाइयों के बीच के बँटवारे या एक कुटुम्ब के लोगों के आपसी बँटवारे की तरह हो उनकी और श्री० जिन्ना की राय में खास फ़र्क यह था कि महात्मा जी हिन्दू और मुसलमानों को एक राष्ट्र मानते थे, जब कि श्री० जिन्ना इन्हें अलग-अलग समझते थे। इसके सम्बन्ध में महात्मा जी ने अपने १५ सितम्बर के पत्र में श्री० जिन्ना को लिखा था कि "इतिहास में मुझे इस बात का कोई दूसरा उदाहरण नहीं मिलता कि अपना धर्म बदलनेवाले लोगों

के दल और उनके वंशजों ने एक अलग राष्ट्र बनने का दावा किया हो। अगर इस्लाम के आने के पहले भारत एक राष्ट्र था तो उसकी बहुत सी सन्तानों के धर्म-परिवर्तन के बावजूद भी वह एक और अखंड रहेगा।"

ब्रिटिश मन्त्रिमिशन योजना—दूसरे योरपीय महायुद्ध के समय तथा उसके बाद ब्रिटिश अधिकारियों ने शासन-समस्या को हल करने के प्रयत्न किए, पर वे अधूरे ही रहे; कोई क्रियात्मक फल न निकला। आखिर, सन १६४६ में ब्रिटिश सरकार की ओर से इंगलैंड के तीन मंत्री यहाँ आए और भारतीय नेताओं से विचार-विनिमय करने के बाद उन्होंने १६ मई १९४६ को भावी विधान बनाने के लिए एक विधान-सभा के संगठन की योजना बनाई और यह सिफारिश की कि एक अखिल भारतीय यूनियन या संघ होना चाहिए, जिसमें ब्रिटिश भारत तथा देशी राज्य दोनों भाग सम्मिलित हों। उसके अधीन ये विषय रहने चाहिएँ—विदेशी मामले, रक्षा और यातायात इन विषयों को छोड़कर शेष सब अधिकार प्रान्तों को हों। कोई भी प्रांत अपनी व्यवस्थापक सभा के बहुमत से प्रथम दस वर्ष बाद विधान की शर्तों पर पुनर्विचार कर सकेगा।

मंत्रिमिशन ने मुसलिम लीग की पाकिस्तान की माँग को स्पष्ट रूप से अस्वीकार करके भी भारतवर्ष को तीन समूहों में बाँटने पर जोर दिया। उनमें से पूर्वी और पश्चिमी समूहों में ऐसे प्रांतों का समावेश किया गया, जिनमें कुल मिलाकर मुसलिम बहुमत था। उसने 'क' समूह में मदरास, बम्बई, संयुक्तप्रान्त; बिहार, मध्यप्रान्त और उड़ीसा रखे; 'ख' (पश्चिमी) समूह में पंजाब,

पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त, और सिंध; और 'ग' (पूर्वी) समूह में बंगाल और आसाम।

इस योजना में प्रांतों का समूहीकरण आदि कई दोष थे। परन्तु अन्त में पूर्ण स्वराज्य प्राप्त करने की आशा से, कांग्रेस ने इस योजना को स्वीकार कर लिया। विधान-सभा में प्रान्तों की ओर से लिए जाने वाले सदस्यों का चुनाव किया गया। मुसलिम लीग ने भी चुनावों में भाग लिया, पर पीछे उसने विधान-सभा से असहयोग किया।

विधान-योजना में परिवर्तन—मुसलिम लीग मंत्रिमिशन-योजना का विरोध, और पाकिस्तान के लिए आन्दोलन करती रही। आखिर, भारतवर्ष के खण्डित होने की आशंका देखकर कांग्रेस ने इस बात पर जोर दिया कि किसी प्रदेश पर उसकी इच्छा के विरुद्ध शासन नहीं लादा जा सकता। २० फरवरी ४७ की सरकारी घोषणा में निश्चयात्मक रूप से यह तो कहा गया कि भारत से विदेशी शासन का अन्त होगा और जून १९४८ तक शासन-सत्ता भारतीयों के हाथ में सौंपी जायगी, परन्तु भारतवर्ष के अखंडित रहने का विचार अस्पष्ट ही रहा। आखिर, लार्ड माउँटबेटन ने विविध नेताओं से मिलकर तथा ब्रिटिश मंत्रिमंडल की स्वीकृति से ३ जून ४७ को विधान सम्बन्धी नई योजना प्रकट की। इस योजना के अनुसार शासन की दृष्टि से भारतवर्ष के दो भाग हो गए:—भारतीय संघ और पाकिस्तान। पाकिस्तान के पूर्वी भाग में पूर्वी बंगाल, और आसाम के सिलहट जिले का अधिकांश भाग है। मुख्य पाकिस्तान पश्चिम में है। इसमें पश्चिमी पंजाब, सिंध,

बिलोचिस्तान और पश्चिमोत्तर सीमान्त है। इन क्षेत्रों के सदस्यों की विधान-सभा ने कराची में काम किया।

पाकिस्तान और ब्रिटिश कूटनीति—नई योजना की खास बात पाकिस्तान का बनना है। यह मुसलिम साम्प्रदायिकता और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के गठबंधन का फल है। प्रमुख फ्राँसीसी नेता मारिस शूमन ने कहा था कि 'लार्ड माउँटबेटन का विनम्र एवं सौजन्यता-पूर्ण व्यवहार, जो विधाता को भी धोखा देने में समर्थ है, यह सिद्ध करना चाहता है कि ब्रिटेन के अस्तित्व से ही सच्चा स्वातंत्र्य स्थापित हो सकता है।...आगे ब्रिटेन संसार को यह दिखा देना चाहता है कि ये दो राज्य ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के अन्तर्गत रहे बिना शांतिपूर्वक नहीं रह सकते।' मास्को रेडियो ने कहा था कि 'मि० चर्चिल के समर्थन से यह योजना भारत में ब्रिटेन का सैनिक तथा आर्थिक प्रभुत्व स्थापित करने के लिए उपस्थित की गई है।' प्रमुख आयरिश पत्र 'आयरिश प्रेस' ने लिखा था कि 'ब्रिटेन ने हटते समय भारत का आयर्लैंड की तरह विभाजन करके उसे निर्बल बना दिया।'

कांग्रेस ने देश का विभाजन क्यों स्वीकार किया?—कांग्रेस ने अखंड भारत का लक्ष्य सामने रखा था। परन्तु बिना मुसलिम लीग के सहयोग के उस सिद्धान्त पर डटे रहने का मतलब देश में भयानक गृहयुद्ध को आमन्त्रित करना था। अंगरेजों की कृपा से मुसलमान अस्त्र-शस्त्र से खूब सुसज्जित थे। साथ ही उनके पीछे ब्रिटिश सत्ता का हाथ था। जिन्ना-चर्चिल सहयोग राजनीतिक पाठकों से छिपा नहीं। चर्चिल की टोरी (अनुदार) पार्टी आखिर ब्रिटिश प्रधानमंत्री एटली पर प्रभाव

डालने और उसे पाकिस्तान बनाने के लिए राजी करने में सफल हो गई। इस बीच में मुसलिम लीग वाले जगह-जगह साम्प्रदायिक दंगे ही नहीं, लूट-मार, आगजनी आदि हिन्सा-कांड करते रहे। एक बात यह भी थी कि अस्थायी सरकार के समय लीगी नेताओं ने पद-पद पर बाधाएँ उपस्थित कीं, और शासन-कार्य ठीक तरह नहीं होने दिया था।

इस दशा में, परिस्थितियों से विवश हो कांग्रेस-नेताओं को न चाहते हुए भी देश का विभाजन स्वीकार करना पड़ा, जिससे अंगरेज यहाँ से चले जायँ, और, खंडित भारत की ही सही, आजादी मिल जाय। उन्होंने इसमें कम बुराई समझी थी। पर पीछे की घटनाओं ने इसमें अधिक बुराई साबित कर दी; यह स्पष्ट हुआ कि इस निर्णय में उन्होने कुछ जल्दी की। अस्तु, हमारा काम वस्तु-स्थिति को समझना और यथा-सम्भव सुधारना होना चाहिए।

पाकिस्तान के अधिकारियों की अल्पसंख्यकों सम्बन्धी नीति—जब तक पाकिस्तान नहीं मिला था, लीगी या साम्प्रदायिक मुसलिम नेता यह कहा करते थे कि सब झगड़ों का अन्त भारत के विभाजन से हो जायगा। खेद है कि पाकिस्तान बन जाने पर भी उन्होंने सद्भावना का परिचय नहीं दिया। देशी रियासतों के बारे में उन्होंने कैसी जोर-जबरदस्ती की नीति ग्रहण की, यह पहले बताया जा चुका है। इसके अलावा उन्होंने अपने अल्पसंख्यकों (गैर-मुसलमानों) की रक्षा का स्पष्ट आश्वासन देते हुए भी खासकर हिन्दुओं और सिक्खों के प्रति बड़ी निष्ठुरता का व्यवहार किया, उन्हें तरह-तरह से सताया और

बेइज्जत किया, यहाँ तक कि उनका वहाँ रहना दुश्वार कर दिया। जब वे बड़ी संख्या में अपना घर-बार छोड़ कर भारतीय संघ में शरण लेने को आने लगे तो, उनका सब सामान छीन लिया गया, उनकी तलाशी ली गई, और उन पर हमला किया गया। इस से अनेक आदमी भूख, सर्दी और जख्मों के कारण अपने प्राणों से हाथ धो बैठे। सिन्ध और पश्चिमी पंजाब के कितने ही स्थानों में हिन्दुओं और सिक्खों की संख्या नाममात्र को रही, या उतनी भी न रही।

इससे वहाँ के बहुत से रोजगार धंधे चौपट हो गए, खेतों में फसलें बिना काटे रह गईं और खराब हो गईं, फलों और मेवाओं का कोई खरीददार न रहा, अनेक बैंकों में ताले पड़ गए, लेनदेन तथा व्यापार प्रायः बन्द हो गए, कराची बन्दरगाह से जो कई लाख रुपए रोज की आमदनी थी, वह करीब-करीब जाती रही, रेलों को बहुत घाटा होने लगा। इस प्रकार पाकिस्तान को भारी आर्थिक हानि उठानी पड़ी।

अधिकारियों का कर्तव्य—खुद अपने फायदे के लिए पाकिस्तान का यह कर्तव्य है कि अपनी आबादी को दूसरे राज्य में जाने से रोके; और जो दूसरे राज्य में पहुँच चुके हों उन्हें वापिस बुला कर सम्मान-पूर्वक रखने के लिए भरसक कोशिश करे। इसके अलावा वहां के नेताओं और अधिकारियों को चाहिए कि वे इस राज्य की ठीक व्यवस्था करने में जुट जायँ; जनता का आर्थिक तथा नैतिक उत्थान करने की यथेष्ट व्यवस्था करें; खेती, पशुपालन उद्योग धन्धों, शिक्षा, स्वास्थ्य, चिकित्सा — सभी दिशाओं में बहुत सा काम करने को पड़ा है। जब इस

रचनात्मक कार्यकी ओर ध्यान दिया जायगा, लोगों की जरूरतें पहले की अपेक्षा अधिक पूरी होंगी और उनकी असुविधाएँ और तकलीफें कम होंगी, तभी वे पाकिस्तान का बनना हितकर समझेंगे।

पाकिस्तान और भारतीय संघ का सम्बन्ध—पाकिस्तान के निर्माता और प्रथम गवर्नर-जनरल कायदे आजम श्री० जिन्ना पाकिस्तान बनने के साल भर बाद ही चल बसे। उनके समय में पाकिस्तान की नीति भारतीय संघ के प्रति अमैत्री की ही रही। कश्मीर, जूनागढ़ और हैदराबाद में यह स्पष्ट हो गया। कश्मीर में तो पाकिस्तानने युद्ध-नीति ही अपनाई। विदेशों में भारत-विरोधी झूठा प्रचार करने में कोई कसर नहीं रखी गई। यह होते हुए भी हाल (सितम्बर १९४८) में भारतीय संघ के प्रधान मंत्री श्री० नेहरू जी ने अपने रेडियो भाषण में पाकिस्तान के लोगों से अपील की कि वे भय और सन्देह को छोड़ कर शान्ति स्थापन में हमारा हाथ बटावें। इसके जवाब में पाकिस्तान के प्रधान मत्री श्री लियाकतअली खां ने भारतीय संघ के प्रधान मंत्री, उनकी सरकार और जनता को यह विश्वास दिलाया कि पाकिस्तान शान्ति चाहता है और पाकिस्तान की स्थापना के बाद से ही हम इसी नीति पर चल रहे हैं। यद्यपि श्री लियाकत अली खां के इस कथन के पिछले हिस्से में कुछ सार नहीं है, उनकी पहली बात, अगर वह केवल राजनीतिक शिष्टाचार नहीं है, आशाप्रद है।

इसी समय भारतीय संघ की ओर से पाकिस्तान में नियुक्त हाई कमिश्नर श्री० श्रीप्रकाश जी के बधाई के संदेश का उत्तर देते हुए पाकिस्तान के कार्यवाहक गवर्नर-जनरल श्री नजिमुद्दीन

ने कहा है कि हिन्दुस्तान और पाकिस्तान में सदिच्छा और शान्ति को बढ़ाना मेरा हार्दिक प्रयत्न होगा, क्योंकि दोनों राज्यों की लड़ाई का अर्थ दोनों का विनाश है।

पाकिस्तान के कर्णधारों को चाहिए कि अपनी इन बातों को जबानी जमा-खर्च न होने दें। वे इस दिशा में सक्रिय कदम उठा कर अपने विचारों और भावनाओं की सचाई साबित करें और दोनों राज्यों के आपसी सम्बन्ध सुधारें।

विशेष वक्तव्य--पाकिस्तान का निर्माण स्वाभाविक रूप से न होकर मुसलिम साम्प्रदायिकता और ब्रिटिश सत्ता के गठबन्धन के कारण हुआ है। इनमें से ब्रिटिश सत्ता चली गई है। हाँ, उसके प्रताप से मुसलिम साम्प्रदायिकता इस समय भी बहुत बढ़ी हुई है। अधिकतर आदमी उत्तेजना-वश अपने हानि-लाभ का ठीक विचार नहीं कर पा रहे हैं। उन्हें ठण्डे दिमाग से सोचने की स्थिति में आने में, और फूट फैलाने वाली नेतागिरी को हटाने में, समय लगेगा। तो भी आखिर उन्हें यह अनुभव होकर रहेगा कि आज-कल के युग मे एक अलग साम्प्रदायिक राज्य बनाने की अपेक्षा, जिसका आर्थिक आधार बहुत कमजोर हो, और जिसमें जुदा-जुदा बेमेल जातियों और हितों का मिश्रण हो—भारतीय राज्य में मिलकर रहना ही अधिक हितकर है। वह समय कब आएगा, यह विचारशील हिन्दुओं और मुसलमानों के प्रयत्नों पर निर्भर है। पाकिस्तानी जनता ध्यान दे। भारतीय संघ वालों के सम्बन्ध में आगे विचार किया जाता है!

———

चौदहवाँ परिच्छेद

भारतीय संघ का उत्तरदायित्व

आज से हम कानूनी तरीके से अपने भाग्य के विधाता बने हैं, और इस देश को शान्त, सुखी और समुन्नत बनाने का सारा भार हमारे ऊपर आ गया है। —डा० राजेन्द्रप्रसाद

(ता० १५ अगस्त १९४७)

भारतीय स्वाधीनता के प्रयत्न—पाकिस्तान के बारे में पिछले परिच्छेद में लिखा जा चुका है। उसकी और भारतीय संघ की स्थापना १५ अगस्त १९४७ को हुई। उस दिन से, यहाँ से ब्रिटिश सत्ता उठ गई। इस के लिए भारतवासी चिरकाल से प्रयत्नशील थे। इसी के लिए सन् १८५७ का युद्ध लड़ा गया था, जिसमें असफल होने का दंड इन्हें बहुत बुरी तरह भोगना पड़ा। इसी के लिए सन् १८८५ से कांग्रेस लगातार कोशिश करती रही, जिसका कुछ जिक्र दूसरे परिच्छेद में किया जा चुका है। इसी के लिए म० गाँधी के नेतृत्व में सत्याग्रह और असहयोग का उपयोग किया गया, जो अपने ढंग के अनूठे और बेमिसाल अस्त्र हैं। इसी के लिए ३१ दिसम्बर १९२९ की रात को ठीक बारह बजे लाहौर में रावी तट पर पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव पास किया गया था। इसी के लिए ८ अगस्त १९४२ में 'अंगरेजो! भारत छोड़ो' प्रस्ताव पास किया गया था। इसी के लिए नेता जी सुभाष बोस और आजाद हिन्द फौज ने ब्रिटिश

सेनाओं से गजब का मोर्चा लिया था। ये तो उदाहरण मात्र हैं। न मालूम, स्वाधीनता के लिए भारतीयों ने कितने संघर्ष मोल लिए और कितनी कुर्बानियाँ कीं। उनका पूरा विवरण लिखने का तो अभी तक समय ही नहीं था।

अधूरी सफलता; चिन्ताजनक कार्य—अस्तु, १५ अगस्त १९४७ को हमने राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्त की। पर इसकी जैसी खुशी होनी चाहिए थी, न हुई। कारण, भारतवर्ष अखंड न रहा। इसके अलावा पाकिस्तान का अलग राज्य बन जाने पर लीग-नेताओं की बन आई, उन्होंने साम्प्रदायिकता का नग्न स्वरूप दिखाया; अल्पसंख्यकों से, खासकर हिन्दुओं और सिक्खों से, अमानुषिक व्यवहार किया। पाकिस्तान के अधिकारियों ने उनकी अराजकता का दमन नहीं किया, और कुछ दशाओं में तो गुप्त रूप से उसे प्रोत्साहन भी दिया। इससे साठ लाख से अधिक आदमियों को बे-घरबार होकर पाकिस्तान से भारतीय संघ में आना पड़ा; बहुतों ने तो सर्दी और भूख से अथवा आततताइयों के आक्रमणों से अपने प्राण ही गँवा दिए।

इन बातों की प्रतिक्रिया भारतीय संघ में, और खासकर पूर्वी पंजाब में हो कर रही। यहाँ बदला लेने की भावना ने उग्र रूप धारण किया। लोगों ने कानून अपने हाथ में लेकर मुसलमानों को सताया। शासकों ने यथा-सम्भव उसे दमन किया। फिर भी कितने ही मुसलमान भयभीत होकर अथवा कल्पित प्रलोभनों में फंस कर पाकिस्तान जाते रहे। इस प्रकार लाखों आदमी एक राज्य से दूसरे राज्य में जाकर शरण लेने लगे।

आबादी का अदल-बदल—देश भर में घोर अशान्ति, अरक्षा और क्षोभ का वातावरण हो गया। बड़ी घबराहट फैल गई। इसके अलावा भारतीय संघ में मुसलमानों की तलाशी लेने पर जगह-जगह आधुनिक घातक अस्त्र-शस्त्र भी बड़े परि· में मिले। इससे सर्वसाधारण में और भी आतंक छा गया। अनेक मुसलमानों ने यहाँ पहले लीग के झण्डे के नीचे पाकि-स्तान का नारा लगाया था। इससे दूसरी जातिवालों के मन में उनके प्रति विरोध-भाव था; अब उनके घरों में छिपे हुए अस्त्र मिलने से उनका रहा-सहा विश्वास भी जाता रहा। कितने ही लेखकों और नेताओं ने यह स्पष्ट राय जाहिर की कि अल्प-संख्यकों की आबादी की अनिवार्य रूप से अदला-बदली करना ही सर्वोत्तम होगा। यह बात क्रोध या घबराहट की थी, इसमें गम्भीरता या व्यावहारिकता न थी। माना कि कुछ मुसलमानों का बर्ताव बहुत ही आपत्तिजनक था; ऐसे आदमियों को राज्य के कानून के अनुसार दण्ड दिया जाय, साम्प्रदायिकता का जहर फैलानेवाली लीग आदि संस्थाओं पर प्रतिबन्ध लगाया जाय। परन्तु सभी मुसलमानों से, जिनमें अनेक निर्दोष हैं और नागरिक कर्तव्यों का ठीक पालन करते रहे हैं, अंधाधुँध अपराधियों का सा व्यवहार करना कैसे उचित या न्यायानुकूल हो सकता है!

भारतीय संघ के मुसलमानों को यहाँ से बाहर किया जाय तो ये चार करोड़ आदमी कहाँ रहें! क्या इनके क्षेत्र को बढ़ाने के वास्ते भारतीय संघ का क्षेत्र कम किया जाना कोई विचार-शील व्यक्ति ठीक समझेगा? फिर मुसलमानों की दस करोड़

की ताकत एक बहुत बड़ी ताकत हो जायगी। यहाँ से पाकिस्तान जाने वाले लोग भारत के कट्टर दुश्मन हो जायँगे। हमें इन चीजों से देश को बचाना चाहिए।

मुसलमानों को निकालदेने से भारतीय संघ की हानि—हमें गम्भीरता पूर्वक यह भी सोचना चाहिए कि सैकड़ों वर्ष साथ रहने के कारण भारतवर्ष में हिन्दू मुसलमानों का जीवन, रहनसहन, और कारोबार आदि इस तरह हिल मिल गया है कि इस देश के किसी हिस्से से एक धर्मवालों को निकाल बाहर करना दूसरे धर्मवालों के लिए बहुत असुविधाजनक और हानिकर होजाना अनिवार्य है। पाकिस्तान से कुछ हिन्दुओं और सिक्खों को चले आने के लिए मजबूर करने से पाकिस्तान ने कितनी हानि उठाई, यह हम पिछले परिच्छेद में बता आए हैं। उससे हमें भारतीय संघ के लिए शिक्षा लेनी चाहिए। कुछ उदाहरण लें—

"अगर हिन्द से कुल मुसलमानों को भगा दिया गया तो बनारस के पीतल का वह काम जो सिर्फ मुसलमान करते हैं, बरबाद होजायगा। पीतल के इस बारीक काम की दुकानें और व्यापार सब का सब हिन्दुओं का है, जिससे हिन्दुओं के सैकड़ों घराने लाखों रुपया कमाया करते हैं; मजदूर सिर्फ मुसलमान हैं, पर ऐसे मज़दूर जिनका स्थान हिन्दू मज़दूर नहीं लेसकते। यही हाल बनारस के रेशम और बनारसी साड़ियों का तथा मुरादाबादी बर्तनों का है; दुकानें सब हिन्दुओं की हैं, और कारीगर सब-के-सब मुसलमान हैं।

"कश्मीर में लकड़ी, ऊन, रेशम, सोने चाँदी और दूसरी तरह की कारीगरियाँ, १०० पीछे ६०, मुसलमानों के हाथ में हैं, पर कारोबार का बहुत बड़ा हिस्सा हिन्दुओं के हाथ में है। हिन्द में लाखों ऐसे मुसलमान हैं, जिनके बुने हुए और रंगे हुए कपड़े बहुत सुन्दर होते हैं,

लेकिन सूत हिन्दुओं की मिलों से आता है, या हिन्दू और मुसलमान दोनों के काते हुए सूत को काम में लाया जाता है। लखनऊ के मिट्टी के खिलोनों की नजाकत और सुन्दरता दूसरी जगह नहीं मिलेगी, उनके भी बहुत से बेचनेवाले हिन्दू हैं और बनानेवाले मुसलमान।" ❀

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मुसलमानों को यहाँ से हटाने से भारतीय संघ और हिन्दुओं को ऐसी हानि होगी, जो पूरी नहीं की जासकेगी।

म० गांधी का प्रयत्न—आबादी की अदल-बदल से होनेवाली हानि को रोकने के लिए म० गांधी ने अपनी पूरी शक्ति लगाई। आपने जहाँ-तहाँ क्षुब्ध जनता को समझाया और धीरज बंधाया। १२ नवम्बर को कुरुक्षेत्र में ठहरे हुए शरणार्थियों को रेडियो-संदेश देते हुए आपने कहा था—"मैं यथाशक्ति इस बात की कोशिश करूंगा कि भारत और पाकिस्तान के सारे शरणार्थी फिर सम्मान और सुरक्षा के साथ उन स्थानों में लौट जायँ, जहां से उन्हें खदेड़ दिया गया है। जब तक मैं जीवित रहूँगा, इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए अपना उपाय जारी रखूंगा। जो मर चुके हैं, उन्हें हम जीवन प्रदान नहीं कर सकते, किन्तु जो जीवित हैं, उनके लिए हम अवश्य ही कोशिश करेंगे। यदि हम ऐसा नहीं करते तो भारत और पाकिस्तान के नाम पर सदा के लिए कलंक का धब्बा लग जायगा, और इसमें दोनों का विनाश निहित है।"

भारतीय संघ की जिम्मेदारियाँ—पाकिस्तान के दुर्व्यवहार से भारत-सरकार के सामने शरणार्थियों का प्रश्न बड़े

❀ 'नया हिन्द' में प्रकाशित श्री० रघुपतिसहाय एम० ए० के लेख से।

विकराल रूप में उपस्थित हो गया। जो आदमी यहाँ आ गए, उनके भोजन-वस्त्र, मकान आदि की व्यवस्था करनी थी, इसके लिए उन्हें जल्दी-से-जल्दी उचित स्थान में बसा कर योग्य काम धंधे में लगाना था। केन्द्रीय सरकार बड़े धैर्य से तथा बहुत व्यय-भार सहते हुए इस समस्या को हल करने में लगी। प्रान्तों, देशी रियासतों तथा सर्वसाधारण जनता ने इस काम में भरसक योग दिया। यद्यपि कहीं-कहीं शरणार्थियों को बहुत कष्ट उठाने पड़े, तथा बहुत-कुछ उनकी असहिष्णुता से नागरिक जीवन अशान्त हुआ, और अब भी बहुत काम करना शेष है, तथापि कुल मिला कर इस विषय में अच्छी प्रगति हो रही है। आशा है, यह समस्या थोड़े समय में हल हो जायगी।

इसके अलावा भारतीय संघ के सामने कई दूसरी बड़ी बड़ी जिम्मेदारियाँ हैं—जनता के भोजन-वस्त्र, मकान, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि की ऐसी व्यवस्था करनी है कि साधारण से साधारण नागरिक को भी अच्छा जीवन बिताने का अवसर मिले; बेकारी दूर करनी है, खाने पहनने आदि की वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाना है, देश को स्वावलम्बी बनाना, और इसका अन्तर्राष्ट्रीय पद ऊंचा करके इसे संसार की एक सुयोग्य इकाई बनाना है, जिससे यह आवश्यकतानुसार पीड़ित देशों के उत्थान में सहायता करे और सुन्दर विश्व के निर्माण में यथेष्ट योग दे सके।

जनता के सहयोग और राजभक्ति की आवश्यकता—इन कार्यों को सरकार तभी कर सकती है, जब उसे जनता का पूर्ण और क्रियात्मक सहयोग प्राप्त हो। इस प्रसंग में यह ध्यान देने की बात है कि पिछले वर्षों में हमें एक विदेशी सत्ता से

संघर्ष लेना और स्वाधीनता प्राप्त करना था। इसके लिए हमने असहयोग, सत्याग्रह और कानून-भंग का अवलम्बन किया। अब परिस्थिति बदल गई है; अब सरकार हमारी है। हमें अपने पुराने रवैये को छोड़कर नए वातावरण के अनुकूल बनना है। यदि इस समय सरकार का कोई काम हमें ठीक न जँचे तो उसके लिए हमें वैधानिक उपायों को ही काम में लाना चाहिए। क्रान्ति, हड़ताल, सत्याग्रह, तालाबन्दी, प्रत्यक्ष कार्रवाई, भूख-हड़ताल, और कानून भंग करना अनुचित होगा। हमें यह अनुभव करना चाहिए कि सरकार हमारे द्वारा बनी है, और हमें अपनी अटल राजभक्ति द्वारा उसका बल बढ़ाना है, जिससे वह शक्तिशाली होकर यहाँ तथा विदेशों में अपने कर्तव्य को भली भाँति पूरा कर सके। अभी कल तक हमने सरकार से लड़ाई ठानी थी, और अपने भाइयों को लड़ने की शिक्षा दी थी, आज हमें राजभक्ति की बात कहनी है।

मुसलमान भाइयों से—राजभक्ति की बात मुसलमानों के लिए भी उतनी ही आवश्यक है, जितनी दूसरे नागरिकों के लिए। जो मुसलमान भारतीय संघ के प्रति पूर्ण राजभक्त नहीं हो सकते, उनका यहाँ से चला जाना ही ठीक है। पर उनकी संख्या बहुत थोड़ी ही होगी। नेक और शुद्ध-हृदय मुसलमान यहाँ निडर रह सकते हैं। बात यह है कि भारतीय संघ की सरकार किसी सम्प्रदाय या दल विशेष की संस्था नहीं है; वह सब नागरिकों का समान रूप से हित चाहती है। मुसलमानों के उचित अधिकारों की वह बराबर रक्षा करेगी।

हाँ, मुसलमानों के लिए भी कुछ कर्तव्यों का पालन करना

लाजमी है। पिछले दिनों कितने ही मुसलमानों ने अपनी इच्छा से, या ब्रिटिश साम्राज्यशाही द्वारा प्रोत्साहित होकर, राष्ट्रीय प्रगति में बाधा पहुँचाई तथा पंचमांगी या भीतरी शत्रु बनकर घोर अशान्ति और हिन्सा-कांड उपस्थित किए। अब मुसलमानों को ऐसा व्यवहार करना होगा, जिनसे उनकी राजभक्ति या वफादारी का पूरा सबूत मिले। मिसाल के तौर पर उन्हें साम्प्रदायिक विष फैलानेवाले नेताओं की नेतागिरी से मुक्त होना चाहिए, मुसलिम लीग से अपना सम्बन्ध विच्छेद करना और इस प्रतिक्रियावादी संस्था को भंग कर देना चाहिए। 'दो राष्ट्र'-सिद्धान्त को भूल जाना चाहिए, और पाकिस्तान की ओर देखना छोड़ देना चाहिए। राज्य के और स्वयं अपने हित के लिए गोहत्या बन्द कर देनी चाहिए। उन्हें हथियार रखने आदि के विषय में राज्य के कानूनों का ईमानदारी से पालन करना चाहिए और हिन्दी तथा देवनागरी उत्साह और प्रेम से अपनानी चाहिए।

निदान, वे भारतीय संघ को अपना राज्य मानें, यहाँ तक कि अगर कभी संयोग से पाकिस्तान या कोई भी दूसरी इसलामी ताकत इस राज्य के किसी भाग पर हमला करने का दुस्साहस करे तो वे उस हमले का सामना करने के लिए तैयार रहें।❀ ऐसे वफादार नागरिकों की भारतीय

❀ हर्ष का विषय है कि सितम्बर १९४८ में जब भारतीय संघ को अपनी सेनाएँ हैदराबाद में शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित करने के लिए भेजनी पड़ीं तो यहाँ के मुसलमानों ने भारत सरकार के काम की सराहना की, तथा हैदराबाद के रजाकारों और उनके समर्थक मुसलमान नेताओं का स्पष्ट विरोध किया।

संघ यथेष्ट रक्षा और उन्नति करेगा।

भारतीय संघ की शासन-नीति——विधान परिषद् में यह स्वीकार हो चुका है कि भारत में स्वतंत्र, पूर्ण सत्तात्मक प्रजातंत्र स्थापित हो। सब नागरिकों के अधिकार सुरक्षित रहें, सब को समान सुविधाएँ प्राप्त करने और इच्छानुसार उन्नति करने का हक़ रहे। कुछ निहित स्वार्थ वाले जमींदार, जागीरदार, पूँजीपति और महन्त आदि ऐसी बातों का प्रत्यक्ष नहीं तो परोक्ष में बहुत विरोध करते हैं। इधर पाकिस्तान की नीति और व्यवहार देख कर कुछ आदमी यह कहने लग गए हैं कि 'जैसा व्यवहार पाकिस्तान अपने अल्पसंख्यकों के प्रति करता है, वैसा ही व्यवहार भारतीय संघ को यहाँ के मुसलमानों के प्रति करना चाहिए।' परन्तु हम समझें कि ऐसी नीति से तो भारतीय संघ और पाकिस्तान राज्य आपस में लड़कर एक दूसरे को नष्ट करने का प्रयत्न करेंगे, और किसी तीसरी शक्ति को हमें फिर गुलाम बनाने का अवसर मिलेगा। इस लिए यह जरूरी है कि भारतीय संघ अपनी शासन-नीति निर्धारित करने में पाकिस्तान की तरफ न देख कर अपनी महान परम्परा और ऊँचे आदर्श तथा सिद्धान्तों को सामने रखे। तभी उसे अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा और दूसरी शक्तियों का अधिक-से-अधिक समर्थन और सहयोग मिलेगा और वह एक शक्तिशाली राज्य बनेगा।

हिन्दू-राज्य-स्थापना की बात——कुछ हिन्दू नेता और संस्थाएँ देश के विभाजन और उसके बाद की संकटपूर्ण परिस्थिति की ओर इशारा करके देश में हिन्दू-राज्य स्थापित करने का नारा लगा रही हैं। प्राचीन और मध्यकाल में हिन्दू शासकों

ने 'राम-राज्य' के अनेक उदाहरण उपस्थित किए, अब भी वैसे शासकों का सर्वथा अभाव नहीं है, पर उपर्युक्त नेता और संस्थाएँ, जिस हिन्दू राज्य का नारा लगाती हैं. उसे ये 'राम-राज्य' कहने का साहस नहीं कर सकतीं। तो क्या उनका हिन्दू राज्य ऐसा ही होगा, जैसा अनेक देशी रियासतों में रहा है, जिसमें जनता को जरा भी स्वतन्त्रता की हवा नहीं मिलती थी? क्या हिन्दू राज्य को जाटिस्तान, सिक्खिस्तान, अछूतिस्तान आदि की भावनाओं को प्रोत्साहन न मिलेगा? क्या एक तिरंगे झंडे की जगह विभिन्न जातियों के अलग-अलग भेद-भाव सूचक झंडों को नहीं अपनाया जायगा? क्या निरंकुश राजाओं, जागीरदारों और जमींदारों तथा लोभी सेठ साहूकारों को अभयदान नहीं मिल जायगा? क्या किसानों और मज-दूरों का शोषण नहीं होता रहेगा! क्या शूद्रों को मानवोचित नागरिक अधिकारों से वंचित नहीं रहना पड़ेगा, और क्या ऊँची जाति वालों को अपनी प्रभुता बनाए रखने का आजन्म अधिकार न मिल जायगा? इसके अलावा, हिन्दू राज्य का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में क्या महत्व रहेगा!

विचार कर देखा जाय तो हिन्दू राज्य की भावना भारतीय संघ के लिए एक बड़ा खतरा है। "हिन्दू राज्य के अन्तर्गत धार्मिक संस्थाओं, मठों और पूँजीवाद में जो गठबन्धन स्थापित होगा, वह देश में समाजवादी व्यवस्था के लिए सब से बड़ा रोड़ा बन जायगा। देश के प्राकृतिक एवं औद्योगिक साधनों को विकसित कर आम जनता के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने की जो अनेक योजनाएँ हैं, उन्हें सदा के लिए बन्द कर देना

होगा। कांग्रेस ने जनता में जो राजनीतिक जागृति और नागरिक मूल अधिकारों के सम्बन्ध में प्रचार किया है, वह हिन्दू संगठन के नाम पर समाप्त कर दिया जायगा।"

यही नहीं, "एशियाई देशों में भारत को आज जो मान प्राप्त है और अन्य राष्ट्र उसके नेतृत्व की जो अपेक्षा करते हैं, वह असफल सिद्ध होगा। एशियाई राष्ट्र विभिन्न धर्मावलम्बियों के देश हैं। जिस दिन भारत अपने आपको हिन्दू राष्ट्र घोषित कर देगा, उनसे उसका सम्बन्ध टूट जायगा। आज जो इस राज्य में एशियाई संस्कृति की एकता का प्रतिनिधित्व करने की क्षमता है, वह समाप्त हो जायगी। इससे केवल इसी राज्य की हानि नहीं होगी, एशियाई एकता को भी गहरी चोट पहुँचेगी।"❋

कार्यकर्ताओं की आवश्यकता—एक बात की ओर पाठकों का ध्यान और दिलाना है। बहुत समय पराधीन रहने से हमारी यह आदत पड़ गई है कि राजप्रबन्ध की हरेक त्रुटि के लिए सरकार को दोष दिया करें। अब परिस्थिति बदल गई, हमारी सरकार कायम हो गई। पर हमारी आदत अभी नहीं बदली। आवश्यकता है कि अब बात-बात में सरकार की आलोचना न करके, हम विविध दोषों को यथा-सम्भव दूर करने का प्रयत्न किया करें। स्वाधीनता प्राप्त होने पर हमारी जिम्मेदारी बहुत बढ़ गई है। पहले हमें खासकर एक ही काम करना था—विदेशी सत्ता को हटाना; अब तो नागरिक जीवन और

❋ 'शुभ-चिन्तक'—दीपावली-विशेषांक, सन् १९४७, में प्रकाशित प्रो० डा० एस० नाग, एम. काम. के लेख से।

शासन सम्बन्धी सभी कामों की ओर ध्यान देना है। आवश्यकता है दलबन्दी और नेतागिरी की भावना हटा कर हम शुद्ध हृदय से, लोकतन्त्रवादी समाज के निर्माण में जुट जायँ। चुपचाप त्याग और सेवा-भाव से काम करनेवालों की इस समय अत्यन्त आवश्यकता है।



पन्द्रहवाँ परिच्छेद

देश-रक्षा



हम युद्ध नहीं चाहते। पर हमारे न चाहने पर भी युद्ध होंगे, क्योंकि वह तो पूँजीवादी साम्राज्य-पद्धति में अन्तर्निहित हैं। केवल शुभेच्छाओं से जातियों के भाग्य का निर्णय नहीं होता।

—मन्मथनाथ गुप्त

स्वाधीनता और देश-रक्षा—अब हम स्वाधीन हो गए हैं। स्वाधीनता को बनाए रखने के लिए एक मुख्य आवश्यकता इस बात की है कि भारतीय संघ की भीतरी तथा बाहरी सुरक्षा की यथेष्ट व्यवस्था हो। देश-रक्षा का दायित्व स्वयं हम पर है। उसके लिए दूसरों की सहायता ताकना अनुचित है, अपमानजनक है। यह ठीक है कि हम किसी देश की आजादी छीनना नहीं चाहते, इसलिए संसार के बहुत से राष्ट्रों से हमारी मित्रता होगी और हमें सैनिक व्यवस्था की बहुत चिन्ता नहीं करनी पड़ेगी। तो भी भारत माता के सुपुत्र कहलानेवाले हर आदमी

का कर्त्तव्य है कि जरूरत होने पर वह देश के लिए अपने प्राण न्योछावर करने को तैयार रहे। इसके वास्ते जरूरी है कि देश-रक्षा सम्बन्धी व्यावहारिक ज्ञान की यथेष्ट व्यवस्था हो।

आन्तरिक सुरक्षा का सवाल—यदि राज्य के सब नागरिक अपने कर्तव्यों का ठीक-ठीक पालन करें तो आन्तरिक सुरक्षा का प्रश्न बहुत चिन्ताजनक नहीं होता। चोरी-डाका आदि डालने की प्रवृत्ति इने-गिने व्यक्तियों में ही होती है और देश में भोजन-वस्त्र और नैतिक शिक्षा की यथेष्ट व्यवस्था होने पर उनकी संख्या और भी कम रहती है। साधारण पुलिस द्वारा उनका सहज ही नियंत्रण किया जा सकता है। परन्तु जब कि देश में पांचवें दस्ते के आदमी या भीतरी शत्रु मौजूद हों तो आन्तरिक सुरक्षा का प्रश्न जटिल रूप धारण कर लेता है। दुर्भाग्य से मुसलिम लीग ने गत वर्षों में जो साम्प्रदायिक विष फैलाया, उससे यहाँ बहुत विकट परिस्थिति पैदा हो गई। पिछले दिनों स्थान-स्थान पर कुछ मुसलमानों के घरों में बड़े परिमाण में शस्त्रास्त्र मिले हैं, पुलिस की नौकरी करते हुए अथवा अन्य जिम्मेदारी के पदों पर रहते हुए कितने ही मुसलमानों ने अपने कर्तव्यों की अवहेलना की और कुछ दशाओं में तो नागरिकों को जानबूझ कर संकट में डाला, राजभक्ति की शपथ लेकर भी विश्वासघात किया। अस्तु, विचारशील मुसलमानों ने लीग को भंग करने की आवाज उठाई है, उन्हें चाहिए कि वे सरकार को ऐसा सहयोग प्रदान करें कि यहाँ आन्तरिक सुरक्षा के विषय में किसी प्रकार का खतरा न रहे।

सेना के पुनर्निर्माण की आवश्यकता—हमारी पराधीनता की हालत में इस देश की रक्षा ब्रिटिश सरकार ने की। उसने भारतीय सेना का उद्देश्य यह रखा था कि वह उसके साम्राज्य की रक्षा में सहायक हो और आवश्यकता पड़ने पर स्वयं भारतवासियों का भी दमन कर सके। अब हमारे स्वाधीन होने पर वही सेना उत्तराधिकार रूप में हमें मिली है। केवल उसके भरोसे, देश-रक्षा के विषय में. निश्चिन्त रहना ठीक नहीं है। हमें देशभक्तों की नई सेना भी बनानी चाहिए। इस सम्बन्ध में श्री मन्मथनाथ जी गुप्त के आगे दिए हुए विचार जान लेना उपयोगी होगा—'यद्यपि इस (वर्तमान) सेना के प्रत्येक सैनिक की भर्ती किराये के टट्टू के रूप में हुई थी, पर बाद में इनमें से बहुतेरे राष्ट्रीय अर्थात् ब्रिटिश-विरोधी विचारों के हो गए, और इनके इस प्रकार बदल जाने के कारण ही ब्रिटिश साम्राज्यवाद को भारत छोड़ना पड़ा। फिर भी ये अपने संस्कारों से पूरी तरह मुक्त नहीं हो सकते। एक तो इनकी विचार धारा बदलना और इन्हें पक्का देशभक्त बनाना है। इसके साथ ही दूसरी नई सेना के निर्माण की आवश्यकता है। इस सेना में ये लोग लिए जायँ—(१) पुराने क्रान्तिकारी, (२) कांग्रेसी, (३) आजाद हिन्द फौज के लोग, और (४) शिक्षित गरीब श्रेणियों के नवयुवक। इस सेना के अधिकारियों के लिए सभी श्रेणियों में से शिक्षित लोगों का एक कालिज खोला जाय, जिसमें जल्दी-से-जल्दी शिक्षा देकर लोगों को अफसर बना दिया जाय। इन अफसरों में से प्रत्येक के इतिहास की छानबीन करके यह निश्चय करना होगा कि इन में से कोई भी भारतवर्ष के बाहर किसी

अन्य राष्ट्र का छिपा भक्त या एजण्ट नहीं है ।'*

नवयुवकों में यह भावना भरी जानी चाहिए कि वे सहर्ष सैनिक शिक्षा पावें और आधुनिक शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित रहें। राज्य की ओर से इन्हें सैनिक शिक्षा देने और इनके लिए आवश्यक शस्त्रास्त्र बनाने या बाहर से मँगाने का समुचित प्रबन्ध होना चाहिए।

कुछ युवक ऐसे भी होते हैं, जो अपने राज्य की रक्षा के लिए प्राण न्योछावर करने में तो नहीं हिचकते, पर वे दूसरों के प्रति अहिंसक ही रहना चाहते हैं। ऐसे नवयुवकों के लिए सैनिक शिक्षा अनिवार्य न होकर उन्हें अहिंसा भाव से देश-रक्षा करने की शिक्षा दी जाय। अवश्य ही ये लोग अहिंसा की आड़ में कायरता का परिचय देनेवाले न हों, वरन् कष्ट सहनेवाले, त्यागशील, और सत्याग्रहियों के गुणों से युक्त हों।

हमारी वर्तमान रक्षा-समस्या—भारतवर्ष का विभाजन हो जाने से रक्षा की समस्या अब पहले से अधिक जटिल हो गई। अब हमारी पश्चिमोत्तर सीमा प्राकृतिक या स्वाभाविक न रही, कृत्रिम हो गई ; वह पंजाब के मध्य में (पूर्वी पंजाब प्रान्त के पश्चिम में) आ गई। इसके आगे पाकिस्तान है। वह इतना समर्थ नहीं है कि पश्चिमोत्तर दिशा से होने वाले रूस के आक्रमण का सामना कर सके, वह तो इंगलैंड और अमरीका के आश्रित रहेगा और उनकी फौजों को अपने यहाँ टिकाएगा। इससे रूस को क्षोभ होना स्वाभाविक है।

इस समय रूस और भारतीय संघ की विदेश नीति को

---

*"सैनिक"—दीपावली-विशेषांक, सन् १६४७।

देखते हुए भारतीय संघ को रूस के आक्रमण की विशेष आशंका नहीं है। हाँ, पाकिस्तान के बारे में जहाँ-तहाँ शंका है। वह भारतीय संघ के अधिक-से-अधिक भाग में अपना अधिकार जमाना चाहता है। * उसे अपनी शक्ति का इतना भरोसा नहीं है, पर वह भारतीय संघ के पंचमांगी (भीतरी शत्रु) मुसलमानों को अपनी ओर मिलाने की आशा करता है। यह ठीक है कि पिछले दिनों कितने ही मुसलमानों ने राजद्रोह और विश्वासघात का परिचय दिया। परन्तु अब परिस्थिति सुधर रही है, और अगर पाकिस्तान् ने उनके भरोसे भारतीय संघ पर हमला किया तो उसे उसका दुष्परिणाम भोगना होगा। तथापि भारतीय संघ को पूर्वी पंजाब आदि की पश्चिमी सीमा पर यथेष्ट सेना रखना आवश्यक है। इसी प्रकार पश्चिमी बंगाल की पूर्वी सीमा पर हमारी सेनाएँ रहना ज़रूरी है।

भारतीय संघ को पश्चिमी और पूर्वी समुद्री किनारे से हमले की आशंका नहीं है। हाँ, दक्षिण और दक्षिण पूर्व की ओर से कुछ शंका हो सकती है; वह भी एशियाई देशों के नहीं, वरन् अमरीका के हमलों की; कारण, अमरीका इधर अपना आर्थिक प्रभुत्व बढ़ा रहा है, जिसका राजनीतिक प्रभाव पड़े बिना न रहेगा। अस्तु, स्वतंत्र भारत को इस ओर से सावधान रहना होगा।

भारतीय संघ और पाकिस्तान दोनों के हित की बात—पाकिस्तान के अधिकारियों की नीति और व्यवहार को

* इसी लिए उसने कबायलियों की आड़ में कश्मीर पर हमला किया।

देखकर भारतीय संघ में उसका सैनिक विरोध करने की बात उठती है। परिस्थितियों की अवहेलना करना उचित नहीं है तथापि यह विचारणीय है कि इस दिशा में हमारी जो प्रगति होगी, पाकिस्तान में उससे भी अधिक उग्ररूप में प्रतिक्रिया होगी। फिर भारतीय संघ उससे बढ़ने का प्रयत्न करेगा। इस प्रकार यह कुचक्र चलता रहेगा। दोनों राज्यों की जो शक्ति राष्ट्र-निर्माण और लोक-हित के कार्यों में लगनी चाहिए, वह विध्वंसक सैनिक प्रयत्नों में ही लगती रहेगी। इससे दोनों राज्यों की शक्ति का ह्रास होगा, बाहरी आक्रमण की आशंका बढ़ेगी, और इन दोनों की स्वाधीनता को भी धक्का पहुँचेगा।

आवश्यकता है कि दोनों राज्य दूसरी बातों में पृथक् रहते हुए भी खासकर अपनी रक्षा-नीति पारस्परिक हित की दृष्टि से निर्धारित करें। इससे किसी की स्वतन्त्रता अपहरण नहीं होगी, क्योंकि अपने आन्तरिक विषयों में दोनों राज्य स्वाधीन रहेंगे। रक्षा के विषय में दोनों राज्यों की मिली-जुली योजना होने से उस शक्ति और द्रव्य की बचत हो जायगी, जो वे अब एक दूसरे के विरुद्ध लगाने की सोचते हैं। यह कोई साधारण लाभ नहीं होगा। इसके अलावा संयुक्त रक्षा-नीति से ये राज्य विदेशी आक्रमणकारियों का आसानी से सामना कर सकेंगे, और इनकी अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा भी बढ़ेगी।

सोलहवाँ परिच्छेद

अखंड भारत

भूगोल, इतिहास तथा परम्पराओं को देखते हुए यह सम्भव नहीं कि पाकिस्तान तथा भारत अधिक समय तक अलग और दुश्मन बने रहें। —बालाजी राव जोशी

पाकिस्तान बनने अर्थात् भारतवर्ष के खंडित होने की बात पहले कही जा चुकी है। उसकी आलोचना करते रहने से अब काम न चलेगा। हमें तो विचार यह करना है कि क्या यह विभाजन भारतवासियों के लिए हितकर है; और यदि हितकर नहीं है तो इसे किस प्रकार रद्द किया जाय।

भारतवर्ष का विभाजन दुखदायी है—भारतवर्ष का खंडित होना हिन्दुओं को कितना दुखदायी हुआ है, यह थोड़े से शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता। उनका हृदय रो रहा है। हाय विधाता यह क्या हो गया! ३० मई १९४७ की संध्या-प्रार्थना में म० गांधी ने कहा था कि 'गत वर्ष को १६ मई की घोषणा का एक अल्प-विराम भी नहीं हटाया जा सकता। हमें मुसलमानों से साफ कह देना होगा कि हम एक इञ्च भी पाकिस्तान मजबूरी से नहीं देंगे। चाहे हम सब नष्ट हो जायँ, सारा हिन्दुस्तान जलकर राख होजाय, परन्तु पाकिस्तान नहीं मिल सकता। पीछे ३ जून को ब्रिटिश घोषणा को मान्य करने के

उपरान्त वक्तव्य देते हुए पं० नेहरू ने कहा था—"मैं प्रसन्नता से इन प्रस्तावों की आप से सिफारिश नहीं कर कर रहा हूँ। युगों से हम एक स्वतंत्र संयुक्त भारत का स्वप्न देखते आए हैं और उसके लिए लड़ते आए हैं। देश के कुछ भागों को अलग होजाने की अनुमति देना अत्यन्त दुखप्रद है। परन्तु मुझे विश्वास है कि हमारा निर्णय सही है।"

पाकिस्तान की स्थिति—सिन्ध, बिलोचिस्तान और सीमा-प्रांत पहले भी दीवालिया प्रांत थे, केन्द्रीय खजाने से उन्हें करोड़ों रुपए साल की सहायता मिलती था, तब उनका काम चलता था। अब वह आमदनी बन्द हो गई। सेना के व्यय का भार अब इन प्रांतों के हिस्से में पहले से कुछ अधिक ही आएगा। इससे पाकिस्तान राज्य की आर्थिक स्थिति का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। फिर, जनता की आवश्यकता की बहुत सी चीजें यहाँ पैदा नहीं होतीं, उन्हें प्राप्त करने की असुविधा बढ़ गई है।

भारतीय संघ के मुसलमानों का विचार—श्री जिन्ना आदि ने पाकिस्तान की माँग मुस्लिम हित के नाम पर की थी, पर इससे मुसलमानों का क्या हित हुआ! चार करोड़ से अधिक मुसलमान इस समय भी पाकिस्तान से बाहर ही हैं। भारतीय संघ के कुछ मुसलमान बड़ी-बड़ी उम्मीदें लेकर वहाँ पहुँचे थे, पर उन्हें बुरी तरह निराश होना पड़ा। सिन्ध आदि के मुसलमानों ने उनका स्वागत न कर तिरस्कार किया, इस पर उन्हें फटे-हाल अपने घर लौटना पड़ा। उन्होंने पाकिस्तानी नेताओं की बहुत निन्दा की। साधारणतया भारतीय संघ के

मुसलमान यह समझने और खुले-आम कहने लग गए हैं कि 'हमें बड़ा धोखा हुआ। जिस पाकिस्तान को बनाने के लिए हमने इतना जोर लगाया था, उस से हमें कुछ लाभ नहीं हुआ; उलटा, हानि ही हुई। पहले हमें यहाँ कई विशेषाधिकार प्राप्त थे, व्यवस्थापक सभाओं आदि में हमारा विशेष प्रतिनिधित्व था, सरकारी नौकरियों में हमारे लिए हमारी आबादी के अनुपात से अधिक स्थान सुरक्षित थे, उर्दू भाषा को अपेक्षाकृत अच्छा महत्व प्राप्त था। अब यह सब बातें जाती रहीं।' इससे स्पष्ट है कि पाकिस्तान से खुद मुसलमानों को भी लाभ नहीं हुआ।

अखंड भारत के समर्थकों का कर्तव्य—अब प्रश्न यह है कि जो सज्जन भारतवर्ष के विभाजन को अत्यन्त हानिकर मानते हैं, जो इस को फिर अखंड रूप में परिणत होते देखना चाहते हैं—वे क्या करें। क्या वे विभाजन को पत्थर की लकीर मानकर सिर्फ अपने भाग्य को कोसते रहें? क्या किसी व्यक्ति या संस्था का, अपने कार्य और व्यवहार से, इस विभाजन को स्थायी बनाने में सहायक होना उचित होगा? कदापि नहीं। जैसा कि श्री० बालाजी राव जोशी एम० ए० ने लिखा है,—विभाजन का जातीय आधार देख कर हिन्दू राज्य अथवा मुसलिम राज्य की स्थापना का विचार करना और तदनुसार अपनी अब तक की मनोवृत्ति, विचार तथा कार्य को परिवर्तित करना भारतवर्ष की राष्ट्रीय अखंडता तथा एकता के लिए हानिकर सिद्ध होगा। यदि हम पिछली अप्रिय घटनाओं को भूलकर पारस्परिक सहयोग और बन्धुभाव के आधार पर न्यायोचित

विधान और आदर्श राज्य-प्रणाली कायम करें, तो सम्भव है कि विभाजन का परिणाम धीरे-धीरे कम हो जाय और एकीकरण में मदद मिले। हम भारत के विभाजन का अस्तित्व कृत्रिम और अवास्तविक समझें और पाकिस्तान को भारत का अविभाज्य अंग मानें। आज भारतवासी जनता की आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक स्थिति सुधारने और उनके जीवन का मान उन्नत करने के लिए ऐसे सैकड़ों कार्यक्रम हैं, जिन पर दोनों भागों का सहयोग और समझौता हो सकता है। तात्पर्य, विभक्त भागों में हर प्रकार से मित्रतापूर्ण सम्बन्ध रखने की, और दोनों को मिलाकर सम्पूर्ण एकता और अखण्डता स्थापित करने की, कोशिश करना राष्ट्र-प्रेमी भारतवासियों का परम कर्तव्य है।'❀

भारतवर्ष सब भारतीयों का है—याद रहे कि अगर कुछ हिन्दू यह कहें कि भारतवर्ष केवल हमारा है, और मुसलमान, ईसाई आदि गैर लोग हैं, तो यह बात अनुचित है। यह ठीक है कि हिन्दू यहाँ बहुत लम्बे अर्से से रहते आए हैं, और इस देश को अपनी मातृभूमि और धर्म-भूमि मानते हैं, परन्तु कुछ ऐतिहासिकों की यह भी तो राय है कि हिन्दुओं या आर्यों से पहले यहाँ द्राविड़ आदि दूसरी जातियों के आदमी रहते थे, जिन्हें हराकर आर्यों ने यहाँ अधिकार जमाया। इस बारे में अभी बहुत मत-भेद है, किसी मत की सचाई अच्छी तरह साबित नहीं हुई है। तो भी यह विचार करने की बात है ही कि आर्य या हिन्दू अब कोई पूरे तौर से शुद्ध जाति नहीं है। इसमें

❀ 'भारत', ता० ३१ अगस्त, १९४७

बहुत से हूण, सीथियन, यूनानी आदि लोगों की मिलावट है, जो समय-समय पर कई कारणों से,खासकर हमला करनेवाले के रूप में यहाँ आए और पीछे इसी देश के निवासी बने और इसी के प्रति अपनी भक्ति-भावना रखने लगे; यहाँ तक कि उन्होंने अपना स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं रखा। इस तरह यह देश उन लोगों का भी उतना ही है, जितना कि आर्य जाति का।

भारतवर्ष सब भारतीयों का है; भारतीयों में हम उन सब आदमियों को शामिल करते हैं, जो यहाँ स्थायी रूप से रहें, इस देश को अपनी कर्मभूमि समझें और इस का हित-साधन शुद्ध सच्चे हृदय से करें। हम हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई, पार्सी, एँग्लो-इंडियन आदि का भेद नहीं मानते। गोरे, काले, पीले— सब रंगों, जातियों और धर्मों के आदमियों को बराबर समझते हैं; शर्त यही है कि वे भी इस देश को अपनी मातृभूमि की तरह मानें। अच्छा, क्या यहाँ सवर्णों, जमींदारों, पूँजीपतियों और राजाओं तथा सरकारी पदाधिकारियों का बोलबाला रहेगा ? इसका जवाब साफ है, हम शोषण, अत्याचार या दमन नहीं चाहते; चाहे उसे विदेशी करें और चाहे हमारे ही देश वाले करें। हथकड़ी या बेड़ी बुरी हैं, वे लोहे की हों या सोने की। हिन्दुस्तान उन्हीं लोगों का होगा, जो खुद आजाद या स्वतंत्र हों, और दूसरों की स्वतंत्रता के हामी हों, जो दूसरों को नीच माननेवाले, दीन और दरिद्र बनानेवाले न हों। हम उस वर्ग का खत्म होजाना चाहते हैं, जो दूसरों को नष्ट करने में लगा हो। 'भारतवर्ष भारतीयों का' कहने का अर्थ 'जीओ और जीने दो' ही नहीं, 'जीओ और जिलाओ' है।

स्वतन्त्रता या आज़ादी, समानता या बराबरी और सहयोग या मिलकर काम करना—इसके मूल तत्व हैं।

यहाँ फ्रांस और पुर्तगाल की सत्ता का अन्त होना आवश्यक है—अगस्त १९४७ से भारतवर्ष में ब्रिटिश प्रभुत्व का अन्त होगया। भारतीय इतिहास की यह एक महत्वपूर्ण घटना है। परन्तु अभी तक भी यहाँ कुछ स्थानों में फ्रांस, और पुर्तगाल की साम्राज्यवादी सत्ताएँ बनी हुई हैं। यह हमारे लिए घोर कलंक की बात है। क्या ही अच्छा होता, यदि भारतवर्ष में अंगरेजों की सत्ता समाप्त होने के साथ ही ये विदेशी सरकारें भी इस देश के निवासियों को अपनी अपनी अधीनता से मुक्त करदेतीं। पर तु साम्राज्यवादी शक्तियाँ अपने आप ऐसा क्यों करने लगीं! अस्तु, स्वतंत्र भारतीय जनता को तो अपने किसी भी भाग को पराधीन नहीं रहने देना है।

'फ्रांसीसी' भारत—फ्रांस के अधीन भारतवर्ष के पाँच नगर हैं—(१) यनाम, (२) माही, (३) कारीकल, (४) पांडेचेरी और (५) चन्द्रनगर। इन सबका क्षेत्रफल २०३ वर्गमील, जन-संख्या सवा तीन लाख, तथा वार्षिक आय तरेसठ लाख रुपए है। पिछले दिनों इन में भारत के राष्ट्रीय झंडे का अपमान किया गया। यह भी आशंका रही है कि कहीं अमरीका यहाँ अपना जंगी अड्डा न बनाले। अस्तु, फ्रांसीसी बस्तियों ने भारतीय संघ में मिलने का आन्दोलन आरम्भ कर रखा है। इस माह (सितम्बर १९४८) फ्रांस के भारत-स्थित राजदूत श्री डेनियल लेवी ने कहा है कि फ्रांसीसी बस्तियों में जन-मत गणना से ही इस बात का निर्णय होगा कि इन बस्तियों

की जनता स्वतन्त्र रहना चाहती है, अथवा वह भारत में सम्मिलित हो जाना चाहती है।

जन-मत का आदर करना ठीक है। परन्तु मत संग्रह में कभी-कभी कैसी कुटिल चालें चली जाती हैं, यह भी कोई रहस्य नहीं है। यदि एक भी फ्रांसीसी नगर में जन-मत की आड़ में फ्रांस की सत्ता बनी रही तो वह भारतवर्ष के लिए भारी खतरा होगा। एक छोटे से फोड़े का विष आदमी की मृत्यु का कारण हो सकता है, यह हमें भूलना न चाहिए।

पुर्तगाली बस्तियाँ—पुर्तगाल के अधीन भारतवर्ष के तीन स्थान हैं—गोवा, डामन और ड्यू। इन तीनों का क्षेत्रफल चौदह सौ वर्गमील और जनसंख्या लगभग छः लाख है। इन स्थानों की भारतीय जनता की स्वतन्त्रता की मांग से पुर्तगाली सरकार बहुत उत्तेजित है। नागरिकों का गांधी टोपी पहनना, और राष्ट्रीय नेताओं के चित्र रखना तक दंडनीय माना जाता है। यही नहीं, पिछले दिनों पुर्तगाली सरकार ने पाकिस्तान से हथियार आदि हैदराबाद पहुँचाने में बहुत सहायता दी है। इस प्रकार गोआ का बन्दरगाह भारतवर्ष के लिए कितना खतरनाक हो सकता है, यह स्पष्ट है। इस लिए इन सभी स्थानों में विदेशी सत्ता का अन्त होना आवश्यक है। और नहीं तो राष्ट्रीय सुरक्षा के विचार से ही हम देश के किसी स्थान को विदेशी शक्तियों के हाथों में नहीं छोड़ सकते। यदि पुर्तगाली सरकार शान्ति-पूर्वक 'भारत छोड़ने' को तैयार नहीं होती तो भारतीय संघ को सैनिक कार्यवाही के लिए तैयार होना पड़ेगा। यह राष्ट्र के स्वाभिमान का प्रश्न है।

नेपाल राज्य की बात—इसका क्षेत्रफल ५४ हजार वर्ग-मील, और जनसंख्या साठ लाख है। अंगरेजों के शासन-काल में इसकी सीमा पर भारत-सरकार का रेजीडेन्ट रहता था, उसे इसके आन्तरिक राज-प्रबन्ध में हस्तक्षेप करने का कुछ अधिकार नहीं होता था। कुछ भारतवासी, खासकर हिन्दू, भारतवर्ष के इस 'स्वाधीन राज्य' का बहुत अभिमान करते रहे, परन्तु इस राज्य से देश के स्वाधीनता-आन्दोलन को कुछ बल न मिला, और न इसके भीतर ही प्रजातंत्रवादियों को सुख की नींद मिली। राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं का दमन करते रह कर इस राज्य ने साम्राज्यवादी अंगरेजों से दोस्ती निबाही। सामंतशाही शासन के कारण आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से यह राज्य बहुत पिछड़ा हुआ रहा है। अब इसका स्वतंत्र भारत से वैदेशिक सम्बन्ध हो गया है, और यहाँ भारत का राजदूत रहता है। पर यही काफी नहीं है। आवश्यकता है कि यहाँ जिम्मेदार लोकतंत्रात्मक शासन स्थापित हो और यह राज्य उत्तर में एक बलवान पहरेदार के रूप में भारतवर्ष की सुयोग्य इकाई बने।

विशेष वक्तव्य—भारतवर्ष का अर्थ हमने पूर्ण भारतवर्ष ही समझा है। हम पूरे भारतवर्ष की कल्पना करते आए हैं। प्राचीन काल में ठेठ उत्तर में हिमाचल लेकर दक्षिण में हिन्द महासागर तक और इसी तरह पश्चिम में काबुल कंधार से लेकर पूर्व में आसाम और ब्रह्मा तक के भूखंड को हमने धार्मिक दृष्टि से एक देश माना है। हम यह स्वप्न देखते रहे हैं कि कभी यह देश राजनीतिक दृष्टि से भी एक होगा। अशोक और अकबर के समय में यह बात कुछ अंश में पूरी हुई।

पीछे अंगरेजों ने यहाँ एकता पैदा की परन्तु वह केवल अपने स्वार्थ के लिए। इस लिए जब उन्होंने गत वर्ष (सन १६४७) यह देश छोड़ा तो एक ओर तो पाकिस्तान का निर्माण करके महान संकट पैदा कर दिया, दूसरे देशी राज्यों की 'स्वतंत्रता' का रास्ता खुला छोड़ने की दुष्टता की। उन्होंने यहाँ साम्प्रदायिकता, प्रान्तीयता, अल्पसंख्यकता आदि का भी रोग बढ़ाया। वे फ्रांस और पुर्तगाल वालों से यहाँ से बिदा होने की बात क्यों कहते। इस प्रकार अब हमारे सामने भारतवर्ष को शिक्षित और समुन्नत करने के अतिरिक्त अखंड बनाने के लिए विविध समस्याएँ हैं। क्योंकि अब हम स्वयं ही अपने भाग्य के विधाता हैं, उपर्युक्त सब समस्याओं को हल करने का सारा भार हम पर है, और हमें धैर्य और दृढ़ता-पूर्वक अपना कर्तव्य पालन करना चाहिए।

यह ठीक है कि गत ३० जनवरी १६४८ से हम राष्ट्र-पिता म० गांधी के नेतृत्व और पथ-प्रदर्शन से वंचित हैं, जो हमें पिछले तीस वर्ष से बराबर हर दिशा में मिल रहा था। परन्तु भौतिक रूप में न सही, अदृश्य रूप में महात्मा जी अब भी हमें रास्ता सुझाने के लिए मौजूद हैं, उनके संदेश अमर हैं. उनसे हमें हमेशा प्रकाश मिलता रहेगा।

परिशिष्ट (१)

राष्ट्रीयता का सदुपयोग

दूसरी बहुत सी बातों की तरह राष्ट्रीयता का भी दुरुपयोग या बुरा इस्तेमाल हो सकता है; और, बहुत से आदमी, इसके दुरुपयोग का विचार करके इस पर कुछ आक्षेप किया करते हैं। हम इस विषय की कुछ मुख्य-मुख्य बातों पर विचार करते हैं, जिससे राष्ट्रीयता के व्यवहार में इसके शुद्ध सच्चे आदर्श का ध्यान रहे, और इसका सदुपयोग होता रहे।

राष्ट्रीयता और व्यक्तित्व—कुछ लोग कहा करते हैं कि जब किसी देश के आदमियों में राष्ट्रीयता का भाव पैदा हो जाता है तो उनका स्वतन्त्र व्यक्तित्व, दया, प्रेम आदि दब जाता है; आदमी राष्ट्र की मशीन का एक पुर्जा रह जाता है। ज़रा विचार करने पर यह मालूम हो जायगा कि यह तो राष्ट्रीयता के दुरुपयोग का बहुत रँगा हुआ चित्र है। असल में राष्ट्रीयता मनुष्य को यह शिक्षा देती है कि वह अपने विचारों को उदार और व्यापक बनावे। आदमी सिर्फ अपने लिए या अपने परिवार आदि के लिए ही नहीं है; उसे देश भर के आदमियों से, चाहे वे किसी भी जाति या धर्म आदि के क्यों न हों, प्रेम करना चाहिए; उनके सुख-दुख, आशा-निराशा आदि को अपना लाभ हानि समझना चाहिए; अपने तथा अपनी जाति के स्वार्थों की बलि

देकर, कुर्बानी करके भी राष्ट्र की भलाई करनी चाहिए। इस तरह राष्ट्रीयता आदमी को प्रेम, दया, त्याग आदि सद्गुणों का विकास करने में मदद देती है।

राष्ट्रीयता और धर्म—राष्ट्रीयता पर एक दोष यह लगाया जाता है कि यह धर्म का विरोध करती है; यह लोगों को धर्म छोड़ने की प्रेरणा करती है। इस सम्बन्ध में कहना है कि ऐसे धार्मिक आचार-व्यवहार को तो छोड़ ही दिया जाना चाहिए जो संकीर्णता या अनुदारता बढ़ाता हो या जो अन्ध-विश्वासों और कुरीतियों को जारी रखता हो। हमारा धर्म ऐसा होना चाहिए, जो हमारी नैतिक उन्नति करते हुए हमें समाज से प्रेम और सहानुभूति करना सिखाए। ऐसे धर्म को को राष्ट्रीयता से कोई डर नहीं हो सकता। असल में सच्चे धर्म और सच्ची राष्ट्रीयता का आपस में गहरा सम्बन्ध है; दोनों का, आदमी और जातियों के विकास में महत्वपूर्ण स्थान है।

राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता—कुछ लोगों का कहना है कि राष्ट्रीयता अपने क्षेत्र से बाहर की दुनिया को प्रतिद्वन्द्वी समझती है; दूसरे राष्ट्रों के नागरिकों से शत्रु या दुश्मन की तरह व्यवहार करना सिखलाती है। अकसर एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र या जाति को दबाने उसका शोषण करने या उस पर हमला करने की तैयारी करता है; इङ्गलैंड और जर्मनी की खटकती रही है; जर्मनी का रूस से संघर्ष हुआ है; रूस जापान के लिए डरावना रहा है। इस तरह चारों ओर डर और आशंका फैली हुई है।

लेकिन यह तो राष्ट्रीयता का दुरुपयोग है। हमें राष्ट्रीयता के सच्चे स्वरूप का ध्यान रखना चाहिए और वह अन्तर्राष्ट्रीयता

का विरोधी नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीयता का मतलब यह है कि एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के सुख-दुख को अपना सुख-दुख समझे; दूसरे के हित में बाधा न डाले; उसके ज्ञान, अनुभव और शक्ति से उचित लाभ उठावे। अन्तर्राष्ट्रीयता का यह मतलब कभी नहीं है कि कोई देश दूसरे राष्ट्र द्वारा अपनी भूमि, जनता, सम्पत्ति या संस्कृति आदि पर आक्रमण होने की दशा में अपनी रक्षा न करे और उसके साम्राज्यवाद को चुपचाप सहता रहे। अन्तर्राष्ट्रीयता का ध्येय या मकसद तभी पूरा हो सकता है, जब हरेक देश बलवान हो; वह साम्राज्यवादी देश के अत्याचारों का भली भाँति सामना कर सके। इसके लिए यह जरूरी है कि हरेक देश स्वाधीन हो और राष्ट्रीयता के भावों वाला हो। इतिहास इस बात का गवाह है कि राष्ट्रीयता के भाव ने नष्ट होती हुई जातियों को मृत्यु से बचाया, उन्हें फिर महान और बलवान बनाया। अन्यायी या खुदमुख्तार शासन से छुटकारा पाने के लिए प्रजा को राष्ट्रीयता से बढ़कर कोई सहारा नहीं मिला है। सिकन्दर; सीजर, लुई, नेपोलियन, और ज़ार आदि की आसुरी शक्तियों का सामना राष्ट्रीयता के सहारे ही अच्छी तरह किया गया है। इस तरह असली अन्तर्राष्ट्रीयता के रास्ते में, राष्ट्रीयता बाधक न होकर सहायक ही होती है।

राष्ट्रीयता और मानवता—इन बातों से यही नतीजा निकलता है कि राष्ट्रीयता है तो अच्छी, लेकिन इसका दुरुपयोग भी हो सकता है। दुरुपयोग की हालत में यह अवश्य ही मानवता या इन्सानियत का विरोध करनेवाली होती है। हमें चाहिए कि इसके आदर्श का ध्यान रखते हुए इसका

सदुपयोग ही करें। श्री० रघुवीरशरण जी दिवाकर ने 'विश्ववाणी' में ठीक कहा है कि "गुलाम राष्ट्र आज़ादी के लिए कोशिश करे तो उसकी यह राष्ट्रीयता मानवता के अनुकूल होगी, और वह ऐसी महान होगी कि उसके पीछे प्राणों का भी उत्सर्ग करना गौरव की बात होगी; लेकिन जहाँ एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को गुलाम बनाने या बनाए रखने के लिए कोशिश करे, वहाँ मनुष्य का कर्तव्य होगा कि वह राष्ट्रीयता के उन्माद का—मानवता के प्रतिकूल राष्ट्रीयता के इस कुत्सित स्वरूप का—विरोध करे और उसे क्षत-विक्षत करने में जान की बाज़ी लगा दे।"

हमें उस राष्ट्रीयता को अपनाना है, जिसका आदर्श मानवता और विश्वबन्धुत्व हो। कौन नहीं जानता कि म० गाँधी और पं० जवाहरलाल नेहरू आदि का राष्ट्र-प्रेम विश्व-प्रेम में बाधक न होकर सहायक ही रहा है।

परिशिष्ठ (२)

भारतवर्ष के राजनीतिक भाग

संख्या	प्रदेश	क्षेत्रफल (वर्गमील)	जन-संख्या
१	भारतीय संघ—		
	बम्बई, संयुक्तप्रान्त, मध्यप्रान्त, बिहार, मदरास, उड़ीसा, आसाम, पश्चिमी बंगाल, पूर्वी पंजाब, दिल्ली, अजमेर-मेरवाड़ा, कुर्ग, और रियासतें।	१२ लाख २० हजार	३१ करोड़
२	पाकिस्तान—	३ लाख ६१ हजार	७ ”
	सिंध, पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त, पश्चिमी पंजाब, बिलोचिस्तान, पूर्वी बंगाल तथा सिलहट, और रियासतें।		
३	नेपाल	५४ हजार	६० लाख
४	फ्रांसीसी भारत —		
	यनाम, माही, कारीकल, पांडिचरी, चन्द्रनगर।	२ हजार	३ ”
५	पुर्तगाली भारत—		
	गोआ, दामन, ड्यू।	१'४ हजार	६ ”